क्षेमेन्द्र कृत

औचित्य-विचार-चर्चा

हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका सहित

सम्पादक

डा० मनोहरलाल गौड़

एम. ए., एम. ओ. एल., पी-एच. डी

अध्यक्ष हिन्दी विभाग

धर्म समाज कालेज, अलीगढ़ ।

प्रकाशक

भारत प्रकाशन मन्दिर

अलीगढ़ ।

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर,
अलीगढ़ ।

मूल्य ५) रुपया

मुद्रक—
कर्णसिंह शर्मा, नवजीवन प्रेस
अलीगढ़ ।

आमुख

डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

'औचित्य-विचार चर्चा' के लेखक आचार्य क्षेमेन्द्र (११वीं शती) से पहले संस्कृत के प्रायः सभी समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रणयन हो चुका था। इन सब में प्रसंगवश ही औचित्य तत्त्व का उल्लेख हुआ था तथापि ध्वनिकार आनन्द-वर्धन ने इसकी अधिक विस्तार से चर्चा की। क्षेमेन्द्र ने इसी सूत्र को पकड़ा और औचित्य को समीक्षा का दृष्टि बिन्दु बनाकर प्रस्तुत ग्रंथ में विवृत किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा काव्य के जितने तत्त्व निर्णीत हुए थे उन सब के प्रयोग में उन्होंने औचित्य की आवश्यकता पर बल दिया है। इस प्रकार के २७ तत्त्वों का उन्होंने उल्लेख किया है और सभी में औचित्य के सद्भाव में सौन्दर्य का और अभाव में असौन्दर्य का प्रतिपादन किया है। औचित्य का जो लक्षण क्षेमेन्द्र ने किया है वह इतना सरल और व्यापक है कि काव्य के अतिरिक्त चित्र, नृत्य, संगीत आदि अन्य कलाओं पर भी वह सरलता से घटित हो सकता है। औचित्य का महत्त्व इसी से ज्ञात होता है कि इसकी चर्चा जहाँ भारतीय समीक्षकों ने की है वहाँ पाश्चात्य आलोचक भी इसकी आवश्यकता स्वीकार करते हैं। क्षेमेन्द्र समीक्षक के अतिरिक्त कवि भी थे। उनकी तीस से ऊपर रचनाएं प्राप्त हैं। उन सब में लोक-जीवन का व्यावहारिक पक्ष गृहीत हुआ है। उसी के अनुरूप औचित्य को उन्होंने समीक्षा का मानदण्ड बनाया है। औचित्य की दृष्टि उन्हें वस्तुतः जीवन से ही प्राप्त हुई है।

औचित्य विचार चर्चा अपने विषय का यह एक मात्र ग्रंथ है। इसका मूलपाठ 'काव्यमाला' में छपा था जो अब अप्राप्य है। काव्य-मनीषियों के समक्ष इसका प्रकाश में आना अपेक्षित था। डा० मनोहरलाल गौड़ ने हिन्दी रूपान्तर और भूमिका के साथ इसका सम्पादन कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। अनुवाद की भाषा स्पष्ट और प्रांजल है। संस्कृत की समास-शैली का हिन्दी की व्यास-शैली में रूपान्तरण करने में प्रायः वाक्य रचना जटिल और अस्पष्ट हो जाने का भय रहता है। परन्तु प्रस्तुत प्रयत्न इस दोष से मुक्त है। काव्यशास्त्र का जिज्ञासु पाठक होने के नाते मैं इस ग्रन्थ का स्वागत करता हूँ।

—नगेन्द्र

विषय-सूची

भूमिका

१–जीवनवृत—

क्षेमेन्द्र लौकिक प्रवृत्ति के कवि हैं। फलतः इनके काव्यों में अनेकत्र ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे इनके जीवनवृत्त पर प्रकाश पड़ता है; यद्यपि वे इतने पर्याप्त नहीं हैं कि इस विषय में इदमित्थम् कहकर कुछ निर्णय किया जा सके।

'कवि कण्ठाभरण' तथा 'औचित्य विचार चर्चा' के अन्त में कवि ने ग्रन्थ समाप्ति का समय श्रीमदनन्तराज नृपति का राज्यकाल बताया है[1]। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार यह काल ईसवी सन् १०२८ से १०६३ तक है। 'वृहत्कथा मंजरी' में कवि ने अभिनव गुप्त को अपना साहित्य-गुरु बताया है। उनकी उक्ति है कि 'ज्ञान के समुद्र 'विद्या विवृति' के लेखक आचार्यप्रवर अभिनव गुप्त से उन्होंने साहित्य सुना था।'

'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणे विद्याविवृतिकारिणः॥

इस श्लोक में उल्लिखित 'विद्या विवृति' प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर लिखी गई टीका है जो सन् १०१४ में पूर्ण हुई थी। 'कविकण्ठाभरण' के प्रारम्भ में मन्त्र साधना की सार्थकता बताते हुये श्लेष द्वारा क्षेमेन्द्र ने संकेत किया है कि उन्हें कवित्व का लाभ अभिनवगुप्त से हुआ था।

एतां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकांजपेत्
क्षेमेमेन्द्रं स लभते भव्योभिनववाग्भवम्।

अभिनव गुप्त का समय निश्चित रूप से ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमदेव ने इनके ग्रन्थ 'अवदान कल्पलता' का प्रणयन सन् १०५२ में बताया है। इन सबके प्रामाण्य से वे ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के ठहरते हैं। गणना से इस तथ्य का भी अनुमान

१—देखिये औचित्य-विचार चर्चा पृ० ९२।

किया जाता है कि इन्होंने 'बृहत्कथा मंजरी' सन् १०३७ में 'समय मातृका' १०५० में तथा 'दशावतार चरित' १०६६ में लिखे थे।

'दशावतार चरित' इनकी अन्तिम रचना है। अतः १०७० के लगभग इनका मृत्युकाल अनुमित होता है। इसी प्रकार सन् १०१४ में अभिनव गुप्त से साहित्य शिक्षा लेने वाले कवि की आयु यदि २५ वर्ष की भी मान ली जाय तो वे दसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में सन् ९९० के लगभग उत्पन्न हुए थे। इन सब प्रमाणों से इनका जीवनकाल सन् ९९० से १०६० तक तथा काव्य काल १०१५ से १०६६ तक स्थिर होता है।

अपने परिवार का परिचय 'औचित्य विचार चर्चा' में इन्होंने स्वयं दिया है। इनके पिता प्रकाशेन्द्र थे। वे काश्मीर में इतने प्रसिद्ध थे कि उस भूभाग का 'प्रकाश' उन्हें कहा जाता था। उनका यज्ञानुष्ठान निरंतर चलता रहता था। उन्होंने ब्रह्माजी का एक मन्दिर बनवाकर उसमें षोडशमातृकाओं की प्रतिष्ठा की थी और उसी मन्दिर में गौ, भूमि तथा मृगचर्म का ब्राह्मणों को दान देते देते वे पंचत्व को प्राप्त हो गए थे। क्षेमेन्द्र के पितामह सिन्धु तथा प्रपितामह भोगेन्द्र थे। वृद्ध प्रपितामह नरेन्द्र थे जो जयापीड के कर्मचारी थे। भाई का नाम चक्रपाल था।

वैसे तो क्षेमेन्द्र ने अपने को 'सर्व मनीषी शिष्य' कहा है जिससे प्रतीत होता है कि ये गुणग्रहण के लिये दूसरों के शिष्य बनने में अपनी हेठी नहीं समझते थे। अतः सम्भव है कि अनेक विशेषज्ञों को इन्होंने गुरु बनाया हो। पर मुख्य रूप से तीन को इन्होंने गुरु कहा है—अभिनव गुप्त, गंगक और सोमपाद।

इनके पिता उदार तथा धनी थे। उनके वात्सल्य की छाया में क्षेमेन्द्र ने सुख-सौन्दर्य का जीवन बिताया था। अनेक प्रकार के लोगों से सम्पर्क प्राप्त किया था। वेश्या, लुहार, चमार, महाजन, शैव, वैष्णव, काश्मीरी, बङ्गाली आदि को बड़े निकट से इन्होंने देखा था। इसलिये जीवन के विषय में इन्हें बड़ा व्यापक, बहुमुखी अनुभव मिला। अपनी 'कलाविलास' रचना में इन्हीं अनुभवों को काव्यबद्ध किया है। इनके समय में काश्मीर की सामाजिक दशा पतनोन्मुख थी। वह कवि की प्रतिभा पर इतना शुभ प्रभाव न डाल सकी कि वह प्रशंसक बन जाता। उसे तो समाज में स्थान स्थान पर छिद्र दिखाई दिये। इसलिये वह व्यंग्यों किंवा यथार्थ के वर्णन और

नीति के उपदेशों द्वारा उसके उत्थान को लक्ष्य बनाकर काव्य रचना करने लगा। बौद्ध धर्म में सामाजिक आदर्श उत्तम थे। इसलिये ग्यारहवीं शताब्दी में भी क्षेमेन्द्र ने शैव होकर 'बौद्धावदान कल्पलता' में भगवान बुद्ध की प्रशंसा की और 'दशावतार चरित' में सबसे पहले उन्हें भगवान मानकर दश अवतारों में स्थान दिया। भगवान विष्णु के अवतारों का रसात्मक वर्णन करने वाले क्षेमेन्द्र पहले कवि हैं। इसकी प्रेरणा उन्हें भागवत से मिली होगी। यही नहीं, 'दशावतार चरित' में उन्होंने संभवतः सब से पहले लोक गीत का संस्कृत में प्रयोग किया। इसी परम्परा को आगे चल कर जयदेव ने अपनाथा और अपनी मधुर शैली से इस परम्परा को हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के कवियों के लिये अनुकरणीय बना दिया। क्षेमेन्द्र नवीन प्रयोगों के प्रयोक्ता भी थे। यह इनकी धार्मिक उदारता और सामाजिकता का भी साक्षी है।

जीवन का यथार्थ बहुमुखी अथच व्यापक रूप इनके ज्ञानगोचर हुआ था। उसी को इन्होंने अपनी रचना का विषय बनाथा। व्यास, वाल्मीकि, गुणाढ्य के ये बड़े प्रशंसक थे। व्यास को तो अपना गुरु मानकर स्वयं को 'व्यासदास' कहा करते थे। इस श्रद्धा का कारण भी यही है कि ये सभी जीवन के यथार्थ द्रष्टा कवि हैं।

२–रचनाएँ

क्षेमेन्द्र की छोटी बड़ी ३३ रचनाओं का पता लग चुका है। इनमें से १८ प्रकाशिव हैं और १५ उनके प्रकाशित ग्रन्थों में निर्दिष्ट हुई हैं। इन सब को चार भागों मे बाँटा जा सकता है--

क– पद्यात्मक सूक्ष्म रूपान्तर।

ख—उपदेशात्मक।

ग—रीति संबधी।

घ—फुटकल।

इनमें से एक एक भाग की प्रत्येक रचना का सूक्ष्म परिचय यह है:—

क—पद्यात्मक सूक्ष्म रूपान्तर :—

इस भाग में ५ रचनाए आती हैं। 'रामायण मंजरी', 'भारत मंजरी', 'बृहत्कथा मंजरी', 'दशावतार चरित' तथा 'बौद्धावदान कल्पलतिका'। इनका परिचय निम्न प्रकार से है :—

(अ) रामायण मंजरी—यह वाल्मीकिकृत रामायण का पद्यों में किया सूक्ष्म रूप है। काव्य कला की दृष्टि से इसका महत्व बहुत अधिक नहीं है। पर ग्यारहवीं शताब्दी में रामायण का पाठ कितना और कैसा था— इसका परिचय इस ग्रन्थ से भली भाँति मिल जाता है।

(आ) भारत मंजरी—यह महाभारत का सूक्ष्म रूपान्तर है। इसमें भी काव्यकला के तो दर्शन अधिक नहीं होते पर मूल ग्रन्थ के तत्कालीन पाठ का साक्ष्य 'रामायण मंजरी' से भी अधिक इसमें प्राप्त होता है। क्षेमेन्द्र ने इसमें महाभारत की छोटी से छोटी घटनाओं का भी उल्लेख किया है। अतः रचना मूलग्रन्थ का सत्य प्रतिनिधि है। इसमें शांतिपर्व के ३४२-३५३ सर्गों के प्रतिपाद्य का किसी रूप में भी उल्लेख नहीं हुआ है। फलतः अनुमान होता है कि वह अंश बाद में परिवर्धित हुआ।

(इ) वृहत्कथा मंजरी—यह गुणाढ्य की प्रसिद्ध 'वृहत्कथा' का सूक्ष्म रूपान्तर है। वह १९ लम्बकों में विभक्त है। रचना करते समय मूलग्रन्थ कवि के पास था—यह अनुमित होता है। पर पाँचवें लम्बक के बाद उसने ग्रन्थ का अनुसरण छोड़ दिया है। वह स्वेच्छा से विस्तार या संकुचन करता गया है। ग्रन्थ में रोचकता का अभाव है। स्थान-स्थान पर कवि ने सालंकार शैली का आश्रयण भी किया है पर उससे ग्रन्थ का सौन्दर्य अधिक नहीं बढ़ सका।

(ई) दशावतार चरित—यहाँ विष्णु के दश अवतारों का वर्णन है। पुराण इसके उपजीव्य हैं। नवीनता इस बात में है कि राम और बुद्ध विष्णु के अवतार रूप में सर्व प्रथम यहीं वर्णित हुए हैं। इससे क्षेमेन्द्र के वैष्णव होने का पता चलता है।

(उ) बौद्धावदान कल्पलता— इसमें जातक कथाओं का संग्रह है। कवि को इसकी रचना की प्रेरणा सज्जनानंद, तक्क तथा वीरभद्र से प्राप्त हुई थी। इसमें कुल १०८ पल्लव हैं। कवि ने कृति को अधूरा ही छोड़ दिया था। बाद में उनके पुत्र सोमदेव ने एक पल्लव और लिख कर इसे पूरा किया। ग्रन्थ का रचना काल सन् १०५२ है। बौद्ध धर्म के प्रति कवि की उदार श्रद्धा का ग्रन्थ साक्षी है।

२—उपदेशात्मक रचनाएँ—

इस भाग में इनकी सात रचनायें आती हैं जिनमें से चार में साक्षात् रूप से उपदेश प्रदान किया गया है। तीन में दोषों पर व्यंग्य है जिसका तात्पर्य उन्हें त्याग कर पवित्र जीवन की ओर संकेत करना है। इनका परिचय निम्न प्रकार से है :—

(क) चारुचर्या शतक—यह सौ अनुष्टुप छन्दो में लिखी छोटी रचना है। इसमें नीति और विनय की शिक्षा दी गई है।

(ख) सेव्यसेवकोपदेश—जैसा कि शीर्षक से प्रतीत होता है रचना में सेवक तथा स्वामी के सम्बन्धों को स्थायी एवं मधुर बनाने के लिए व्यवहारनीति की शिक्षा दी गई है। इसमें ६१ पद्य हैं।

(क) दर्पदलन—यह अपेक्षाकृत बड़ी रचना है। इसका विषय है अभिमान की निन्दा। इसमें सात विचारक (अध्याय) हैं। अभिमान के सात कारणों की कल्पना कर प्रत्येक पर एक-एक अध्याय लिखा है। ये कारण हैं—आभिजात्य, धन, विद्या, सौन्दर्य, वीरता दान तथा तप।

(घ) चतुर्वर्ग संग्रह—इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का संतुलित वर्णन किया गया है। काम का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है।

(ङ) कलाविलास—क्षेमेन्द्र की यह सर्वश्रेष्ठ रचना समझी जाती है। इसमें दससर्ग और ५५१ आर्या पद्य हैं। कथा–नायक मूलदेव है जो अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को विविध कलाओं का रहस्य समझाता है। यही ग्रन्थ का ढांचा है। ग्रन्थ का प्रारम्भ दंभ के वर्णन से होता है। दंभ तीन प्रकार के हैं बक-दंभ, कूर्मज दंभ तथा मार्जार दंभ। इनके बड़े रोचक वर्णन हुए हैं। दंभ के अनेक रूप हैं—शुचिदंभ, शमदंभ, स्नातक दंभ, समाधिदंभ आदि। पर ये सब निस्पृहदंभ की तुलना नहीं कर सकते। मुण्डी, जटिली, नग्न, छत्री, दण्डी, कषायधारी, भस्म रमाये जोगी ये सब दंभ के रूप हैं। इसके पिता लोभ, माता माया, सहोदर, कूटनय, गृहणी कुटिलता और पुत्र हुंकार हैं। विधाता ने सृष्टि की रचना कर जब प्राणियों को निरालंब एवं धनादि के भोग से

वंचित देखा तो उनके वैभव के लिये दंभ की सृष्टि कर दी। दंभ ने खड़े-खड़े ही ऐसा तप किया कि ब्रह्मा जी आश्चर्य में पड़ गए, वशिष्ठ लज्जित, कुत्स कुत्सित, नारद निराह्न, जमदग्नि भग्नवदन और विश्वामित्र त्रस्त हो गए। सोच विचार कर ब्रह्मा जी ने उसे अपनी गोद में ही स्थान दिया। वह बड़े संकोच के साथ हाथ से पानी छिड़क कर वहाँ बैठा और ब्रह्मा जी से बोला कि आप जोर से न बोलिए, यदि बोलना ही हो तो मुँह के आगे हाथ लगा कर बोलिये जिससे आपके मुँह की साँस का स्पर्श मुझे न हो। इस पर ब्रह्मा जी हँसे और उसे संसार का प्रत्येक स्थल निवासार्थ दे दिया। यह वंचकों का कल्पवृक्ष है। विष्णु ने वामन के दंभ से ही तीनों लोकों का आक्रमण किया था।

लोभ का घर व्यवसाय है। इसके प्रभाव में शुक्राचार्य जैसे ज्ञानी भी आ जाते हैं। कपटाचरण लोभ के ही कारण होता है। निर्लोभ व्यक्ति कभी वंचना नहीं करता। कवि ने काम के वर्णन प्रसंग में इन्द्रियासक्त कामुकों, चरित्रहीन स्त्रियों, वेश्याओं आदि के वंचक चरित्र पर बड़े तीखे व्यंग्य कसे हैं। राज दरवारी कायस्थ भी व्यंग्य प्रक्षेप के लक्ष्य बने हैं। वे विष्णु के अवतार हैं क्योंकि १६ कलापूर्ण हैं। मद के प्रसंग में शराबियों के खाके भी खूब खिचे हैं। वे मद में अपना मूत्र तक पी जाते हैं, अपनी पत्नी के सतीत्व का भंग आँखों से देख कर भी नहीं लज्जित होते। अश्विनीकुमारों की कृपा से युवा बने च्यवन ऋषि ने उन्हें जब यज्ञभागी बनाना चाहा और इन्द्र ने इसका निषेध किया तो ऋषि ने कृत्यारूप मद राक्षस की सृष्टि की। वही फिर स्त्री, द्यून, पान और मृगया में प्रविष्ट हो गया।

दंभ की उत्पत्ति और उसके निवास स्थानों की सूची बड़ी रोचक है। गवैये तथा कवि जी भी सुबह के कमाये को शाम तक खर्च कर खाली हाथ सोने वाले जीव हैं, जिनका पेट कभी भरता ही नहीं। 'हा-हा' करने से रात का चोर तो भाग जाता है पर ये दिन के चोर गवैये 'हा-हा' करके ही चुरा ले जाते हैं। नट, नर्तक, कुशीलव, चारण और विट ये ऐश्वर्य की खेती के लिये टिड्डी हैं। इनसे संपत्ति की रक्षा करनी चाहिये। गवैयों की जो सम्मिलित ध्वनि उठती है वह मानों अस्थान दत्त लक्ष्मी का चीत्कार है। सुनार चौंसठ कला पूर्ण होते हैं। ये मेरु पर्वत के चूहे हैं जो पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। अन्त में कवि ने उन साधनों की शिक्षा दी है जिनसे हम बिना पापाचरण के आजीविका कमा सकते है। क्षेमेन्द्र का अन्त में उपदेश है कि वंचक माया

जाननी तो चाहिये पर उसका आचरण नहीं करना चाहिये।

(च) देशोपदेश—यह आठ उपदेशों में विभक्त वर्णनात्मक रचना है। इसमें काश्मीर देश की दुर्बलताओं का चित्रण है। उन पर व्यंग्य कसना कवि का लक्ष्य है। पर कृति अधिक सफल नहीं कही जा सकती। व्यंग्य कहीं भद्दे हो गए हैं। तीक्ष्णता भी उनमें नहीं है। विषय है—कंजूस, वेश्या, कुट्टिनियाँ, विट, काश्मीर में पढ़ने के लिये आया हुआ बंगाली विद्यार्थी, बूढ़ा वर, कवि, शेखीखोर, वैयाकरण आदि आदि। 'कला विलास' इस दिशा का सर्वोत्तम सफल व्यास है।

(छ) नर्ममाला देशोपदेश की भाँति यह भी व्यंग्यात्मक रचना है। इसका प्रधान विषय है धूर्त कायस्थ। उसके दंभ, रिश्वतखोरी, चालाकी आदि का साक्षेर वर्ण है। उसके व्यक्तिगत जीवन के कुत्सित रूप का भी विस्तार से चित्रण हुआ है। इस विषय में कवि पक्षपाती सा प्रतीत होता है। बाद में नौसिखिया वैद्य, ज्योतिषी, गुरु आदि के भी व्यंग्यात्मक वर्णन हुए हैं।

३—रीति ग्रन्थ

रीति ग्रन्थ क्षेमेन्द्र के तीन प्राप्त हैं—'कवि कण्ठाभरण', 'औचित्य विचार चर्चा' और सुवृत्ततिलक'। इनमें से पहला कवि शिक्षा पर, दूसरा काव्यालोचन के औचित्य मार्ग की स्थापना पर तथा तीसरा छन्दों पर लिखा गया ग्रन्थ है। इनमें सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण है 'औचित्य विचार चर्चा'। इनमें से दो का सूक्ष्म परिचय यह है। तीसरी रचना का विशद परिचय इस चर्चा के अन्त में दिया जायगा।

(क) कवि कण्ठाभरण—यह ५५ कारिकाओं में लिखा पाँच सन्धियों का छोटा ग्रन्थ हैं। अकवि को कवि बनाने की शिक्षा इसमें दी गई है। पहली सन्धि में तीन प्रकार के शिक्षार्थी बताये गये हैं:—अल्प प्रयत्न साध्य, कष्ट साध्य तथा असाध्य। इनमें पहले दो को कवि-रुचि प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये यह बताकर असाध्य को अनुपदेश्य कह दिया है। दूसरी सन्धि में काव्य रचना के कुछ व्यावहारिक अभ्यास बताकर सौ उपायों का निर्देश किया है जो अकवि को कवि बनने के लिये करने चाहिये। तीसरी सन्धि में कविता में चमत्कार लाने का उपदेश है। चमत्कार को काव्य का

आवश्यक तत्व बताकर उसके भेदों का सोदाहरण परिगणन किया गया है। चौथी संधि गुण-दोष-विभाग पर लिखी गई है। काव्य के इस अधिकरण को सरल तथा सूक्ष्म बनाने की क्षेमेन्द्र की पद्धति अत्यन्त प्रशंसनीय है। पाँचवीं सन्धि में कवि के लिये लोक शास्त्र की विविध वस्तुओं का परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता बताकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है। कवि शिक्षा जैसे व्यापक विषय पर इस प्रकार का, सरल सुगठित, व्यावहारिक ग्रन्थ लिखना आचार्य की परिष्कृत एवं निर्भ्रांत बुद्धि का परिचायक है।

(ख) सुवृत्ततिलक—यह छन्द शास्त्र पर लिखा गया मूल्यवान ग्रन्थ है। तीन विन्यासों में यह विभक्त है। पहले में वृत्तावचय अर्थात छन्दों का संग्रह है। दूसरे में गुण दोषों का वर्णन तथा तीसरे में छंदों के प्रयोग का विवेचन है। अन्त में दोनों अध्यायों में बताये गये मार्ग पर छन्दों के सफल प्रयोक्ता कवियों के नामोल्लेख और रस, अवस्था तथा वस्तु के अनुसार छन्दों के चुनाव का बड़ा मार्मिक विचार किया गया है। छन्दोविज्ञान पर इस प्रकार का वैज्ञानिक विचार-प्रयास अन्यत्र नहीं मिलता।

४—फुटकल रचनायें—

तीन छोटी रचनायें इस विभाग में आती हैं। इनमें से एक का कर्तृत्व संदिग्ध है। शेष दो अत्यन्त लघु हैं। विवरण इस प्रकार है।

(क) लोक प्रकाश कोष—यह क्षेमेन्द्र की संदिग्ध रचना है। वेबर ने इसे क्षेमेन्द्र की कृति नहीं माना। दूसरी ओर व्हुलर ने सबल भाषा में इसे उन्हीं की रचना सिद्ध किया है। ग्रन्थ में व्यापारियों के हुण्डी परचों का परिचय, काश्मीरी अधिकारियों की उपाधियां तथा वहाँ के परगने आदि के नाम दिये हैं। काश्मीर देश के भूगोल, शासन तथा व्यापार सम्बन्धी विवरण बड़े ज्ञानवर्धक हैं।

(ख) नीति कल्पतरु—यह व्यास के नीतिपद्यों पर लिखी गई टीका है।

(ग) व्यासाष्टक— यह व्यास की स्तुति में लिखे गये आठ श्लोकों का संग्रह है। रचना भारत-मंजरी' का ही अंग प्रतीत होती है।

ऊपर बताये गए ग्रन्थों के अतिरिक्त १४ रचनायें ऐसी हैं जिनका नामोल्लेख क्षेमेन्द्र ने स्वयं अपने ग्रन्थों में किया है। एक का उल्लेख राजतरंगिणी में हुआ है। इस प्रकार १५ रचनायें निश्चित रूप से क्षेमेन्द्र की अनुमित होती हैं जो अब तक प्रकाश में नहीं आईं। पं० शिवदत्त जी ने 'हस्तिप्रकाश' ग्रन्थ को भी क्षेमेन्द्र कृत माना है। इसी प्रकार ब्हुलर ने 'स्पन्दनिर्णय' एवं 'स्पन्दसन्दोह' को इनका कहा है। इन तीनों के विषय में कोई निर्णय-जनक तर्क नहीं मिलता। अप्रकाशित रचनाओं के संकेत निम्न प्रकार से हैं:—

क—कवि कण्ठाभरण में उल्लिखित कृतियाँ—

(१) शशिवंश महाकाव्य, (२) पद्य कादम्बरी, (३) चित्र भारत नाटक, (४) लावण्य मंजरी, (५) कनक जानकी, (६) मुक्तावली तथा (७) अमृत तरंग महाकाव्य।

ख—औचित्य विचार चर्चा में उल्लिखित कृतियाँ—

(८) विनयवल्ली, (९) मुनिमत मीमांसा, (१०) नीतिलता, (११) अवसर सार, (१२) ललितरत्नमाला, (१३) कवि कर्णिका।

ग—सुवृत्त तिलक की उल्लिखित रचना—

(१४) पवन पंचाशिका,

घ—राजतरंगिणी की उल्लिखित रचना—

(१५) नृपावली या राजावली।

इस प्रकार १९ ग्रन्थ प्रकाशित तथा १५ अप्रकाशित सब मिलकर ३४ रचनायें क्षेमेन्द्र कृत सिद्ध होती हैं। रचनाओं की संख्या तो उन्हें महान् कृती सिद्ध करती ही है। रचनाओं के वर्ण्य विषय इतने विविध तथा अछूते हैं कि कवि की बहुवित् प्रतिभा पर पाठक को आश्चर्य होता है। क्षेमेन्द्र यथार्थ जीवन के कवि हैं। जिस प्रकार जीवन विविध है उसी प्रकार कवि के वर्ण्य विविध हैं। इन सब के मूल में ऐहिक जीवन का परिष्कार कवि का अभिप्रेत भाव है जो उनकी सदाशयता को प्रमाणित करता है। लोक जीवन के दुर्बल रूप का वर्णन वे वर्णन के लिये नहीं करते, परिष्कार की भावना से करते हैं। इसीलिए जीवन की दुर्बलता पर व्यंग्य कसकर

स्वच्छता की ओर संकेत करते हुए वे सर्वत्र प्रतीत होते हैं। इन्होंने काव्य रचना के लिये जिस क्षेत्र को अपनाया है वह ऐहिकता प्रधान है और संस्कृत वाङ्मय के लिए नवीन है। इसलिये कीथ जैसे विद्वान् इनकी काव्य प्रतिभा में बीसवीं शताब्दी की सी आधुनिकता के दर्शन करते हैं।

३—व्यक्तित्व

आचार्य क्षेमेन्द्र जैसे उच्च कोटि के कवि हैं वैसे ही वे श्रेष्ठ आचार्य हैं। प्रायः देखा जाता हैं कि व्यक्तित्व के ये दो पक्ष साथ-साथ मिलकर नहीं चल पाते। कवित्व के उत्कर्ष से आचार्यता शिथिल हो जाती है। कवि भावुक और निरंकुश होता है। उसमें आचार्य का संतुलित विवेक प्रायः नहीं होता। इसी प्रकार आचार्यपन भावुकता को सुखाकर नीरस विवेक की वृद्धि करता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण अनेकों हैं। मतिराम जितने सहज सरल कवि हैं उतने प्रौढ़ आचार्य नहीं। केशव का आचार्यत्व उत्कृष्ट है, कवित्व निकृष्ट। पर क्षेमेन्द्र में ये दोनों गुण पूर्ण प्रौढ़ हैं। संस्कृत साहित्य में इसी प्रकार के दूसरे कवि पंडितराज जगन्नाथ हैं। दण्डी में भी आचार्यता और कवित्व का समान संयोग दिखाई पड़ता है।

क्षेमेन्द्र का कवित्व अधिक सरस एवं ललित तो नहीं कहा जा सकता, पर व्यापक अवश्य है। अनेक विषयों पर इन्होंने अपनी लेखनी उठाई है और सफलता प्राप्त की है। संस्कृत साहित्य में इतना विविधलेखी दूसरा कवि नहीं मिलता। काव्य की शैली पुराणों की सी इतिवृत्तात्मक है। यत्र तत्र अलंकारों के सफल प्रयोग भी मिलते हैं।

इनका आचार्यत्व और कवित्व परस्पर सम्बद्ध भी है। कवि के लिये जिन-जिन आदर्शों, विषयों आदि का संकेत इन्होंने किया है प्रायः उन्हीं के अनुसार रचनायें की हैं। रीति सम्बन्धी इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हैं— कविकण्ठाभरण' और 'औचित्य विचार चर्चा'। पहली में कवि शिक्षा है दूसरी में एक समीक्षा मार्ग की स्थापना का प्रयत्न है। कवि शिक्षा के अन्तर्गत जिन आदर्शों का इन्होंने संकेत किया है, इन सभी का पालन प्रायः अपनी रचनाओं में किया है।

कवि के लिए इन्होंने (१) लोकाचारपरिज्ञान—लोक जीवन का परिचय, (२) उपदेश विशेषोक्ति—स्थान-स्थान पर उपदेशप्रद उक्तियाँ

कहना, (३) इतिहासानुसरण— इतिहास को मानना, (४) सर्वसुरस्तुति में साम्यभाव—सब देवताओं की समानभाव से स्तुति करना, (५) विविक्ताख्यायिका रस—उत्कृष्ट कथा साहित्य में रुचि रखना, (६) नाटकाभिनयप्रेक्षा—नाटकों के अभिनय देखना, (७) काव्यांगविद्याधिगम-काव्य को अंग-उपांगों का ज्ञान, (८) प्रारब्ध काव्य निर्वाह—काव्य का प्रारम्भ कर समाप्त कर लेने का स्वभाव-आदि गुण बताये हैं। एक-एक गुण के अनुसार कवि की रचनायें प्राप्त होती हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार से है :—

१–लोकाचारपरिज्ञान
- १—समय मातृका
  (वेश्याओं के व्यवहार का वर्णन)
- २—कला विलास
  (विविध व्यवसायों का वर्णन)

२–उपदेशविशेषोक्ति
- १—दर्पदलन
  (मिथ्याभिमान की निन्दा)
- २—सेव्यसेवकोपदेश
  (स्वामी सेवक के सम्बन्धों का निर्देश)
- ३—चारुचर्याशतक
  (श्रेष्ठ दिनचर्या का वर्णन)

३–इतिहासानुसरण
- १—भारत मंजरी
  (महाभारत का सूक्ष्म रूपान्तर)
- २—रामायण मंजरी
  (रामायण का सूक्ष्म रूपान्तर)

४–सर्वसुरस्तुति में साम्यभाव
- १—दशावतार चरित
  (दश अवतारों का वर्णन)

५–विविक्ताख्यायिका रस
- १—पद्य कादम्बरी
  (बाणकृत कादम्बरी का पद्यबद्ध अनुवाद)

६–अभिनय प्रियता
- १—चित्र भारत नाटक
  (महाभारत की कथा का नाटक रूप)

७–काव्यांग विद्या का अधिगम
- १—कविकण्ठाभरण
  (कवि शिक्षा का वृहत् ग्रन्थ)
- २—औचित्यविचार चर्चा
  (औचित्य के समीक्षा मार्ग की स्थापना)
- ३—सुवृत्ततिलक
  (छंद विचार)

८—प्रारब्ध काव्य निर्वाह १—किसी भी रचना को कवि ने अपूर्ण नहीं छोड़ा है। सभी पूर्ण हैं।

औचित्य विचार चर्चा के अनुसार काव्य का आत्मतत्व औचित्य है। इसके बिना अलंकार, रस, गुण, आदि अकिंचित्कर हैं। वे तभी काव्य विधायक तत्व हो सकते हैं जब कि उनके मूल में औचित्य वर्तमान हो। इस ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र का समीक्षक रूप प्रौढ़ एवं गम्भीर प्रतीत होता है। वह ध्वनि, रस, अलंकार आदि अन्य काव्य मार्गों के प्रवर्तक आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा दण्डी आदि के समकक्ष ठहरते हैं। यद्यपि ये सर्वथा मौलिक नहीं हैं। इस ओर भी दण्डी आनन्दवर्धन आदि ने स्पष्ट संकेत किये हैं। पर उसे इतना सार्वभौम महत्व किसी ने प्रदान नहीं किया कि वह काव्य कला के समस्त तत्वों में व्यापक अथच मूलानुप्रविष्ट प्रतीत हो। यह आचार्य क्षेमेन्द्र की देन है। दूसरे कवियों की रचनाओं का समादार, समीक्षण तथा विवेचन, और आचार्यों के मतों को स्वीकार करते हुये अपने मत का महत्व प्रकट करना आदि गुणों की क्षेमेन्द्र ने प्रशंसा की है। इन सभी के दर्शन उनके निबन्धों में होते हैं। कवि ने अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों के उदाहरण निष्पक्ष होकर दिये हैं। सभी में यथासम्भव गुण अथवा दोषों का संकेत किया है। यहाँ तक है कि अपनी स्वयं की कविताओं में भी दोष दिखाने में इन्हें संकोच नहीं हुआ। इससे क्षेमेन्द्र की विशाल उदारता, महाशयता और कला-प्रियता का पता चलता है।

क्षेमेन्द्र व्यास जी के परम भक्त हैं। इनने कि अपना उपनाम 'व्यासदास' रखते हैं। उन्होंने व्यास को 'भुवनोपजीव्य' (कवि मात्र की प्रेरणा का स्रोत) कहा है। इसी श्रद्धा से प्रेरित होकर 'भारत मंजरी' का प्रणयन किया। व्यास के कवित्व में जीवन का जैसा बहुमुखी व्यापक रूप व्यक्त हुआ है वैसा ही कुछ-कुछ इनकी रचनाओं में मिलता है। वृहत्कथा और रामायण के सूक्ष्म रूपान्तर उपस्थित करने में भी यही प्रेरणा काम करती दीखती हैं। इससे क्षेमेन्द्र का व्यावहारिक विवेकी व्यक्तित्व अनुमित हो जाता है। रामायण, महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थों को पढ़ने का अवकाश जिन्हें न हो वे क्षेमेन्द्र की 'मंजरियों' में उन उद्यानों की गन्ध पा सकते हैं। यह प्रयत्न कितना स्तुत्य और कितना आधुनिकतम है?

छंदो-विधान पर इनका 'सुवृत तिलक' है जो अपने क्षेत्र में अद्वितीय कृति है। अभिव्यंग्य भावों के सम्बन्ध में छन्दों का विचार, उनके गुण दोषों का विवेचन, विशिष्ट कवियों के प्रिय छन्द आदि का इसमें उल्लेख है। छन्दशास्त्र के ग्रन्थों में छन्दों के शरीर पर ही विचार अधिक किया गया है। पर किसी छन्द विशेष की लय किस भाव विशेष के लिये उपयुक्त है—इसका विचार नहीं किया गया। वास्तव में अपेक्षित यही है। क्षेमेन्द्र के 'सुवृव तिलक' का प्रतिपाद्य विषय यही है। सम्भवतः अपने ढङ्ग का संस्कृत में यह अकेला ही ग्रन्थ है।

छन्दों का इतनी व्यापकता से विचार अन्यत्र नहीं मिलता। औचित्य विचार चर्चा में जो सत्ताईस प्रकार के औचित्य-स्थल दिखाकर संकेत किया गया है कि इस प्रकार के अनेक स्थल और भी हो सकते हैं—उसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'सुवृत तिलक' है जिसे एक नाम से 'वृत्तौचित्य' कहा जा सकता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के आचार्य रूप ने काव्य की जिन समस्याओं को उठाया है वे नवीन हैं और महत्व पूर्ण हैं। इसलिए इनकी मौलिक सूझ बूझ का पर्याप्त परिचय यहाँ मिलता है।

—:०:—

औचित्य विचार चर्चा

पूर्ववृत

औचित्य सिद्धान्त को समझने के लिये संक्षेप में संस्कृत समीक्षा का पूर्ववृत्त जान लेना आवश्यक है। इसकी बड़ी लम्बी परम्परा है और बहुत बड़ा इतिहास है। ईसापूर्व पहली शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप से इसकी धारा बही है। इसके सर्व प्रथम आचार्य भरत मुनि हैं और अन्तिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ। भरत मुनि का ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' प्रमुख रूप से नाटक साहित्य के अभिनय की समस्या को लेकर लिखा गया है पर प्रासंगिक रूप से नाटकों के साहित्य रूप को भी उन्होंने लिया है। उसी सम्बन्ध में रस सिद्धान्त का प्रणयन हुआ। लगभग एक हजार वर्ष तक, जब तक ध्वनि सिद्धान्त का आविष्कार नहीं हुआ था, रस तत्व का विचार नाटकों के ही प्रसंग में होता रहा। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि की स्थापना में भाव ध्वनि को प्रमुखता दी। रस भाव की ही आरूढ दशा का नाम है; इसलिये परंपरया रसतत्व का विचार श्रव्य काव्य के क्षेत्र में ध्वनिवादियों द्वारा हुआ। ध्वनि मार्ग के प्रौढ़ व्याख्यता आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के रूप में रस का सांगोपांग विवेचन किया है और अपने सब उदाहरण श्रव्य काव्यों से दिये हैं। नाटक का कहीं नाम भी नहीं लिया। हो सकता है कि मम्मट की यह नाटकोपेक्षा साभिप्राय रही हो। इसके बाद आचार्य विश्वनाथ ने चौदहवीं शताब्दी में रसमार्ग की विशद और व्यापक रूप से स्थापना की। श्रव्य और दृश्य दोनों काव्य रूपों का प्राण तत्व रस को माना। इस प्रकार रस सिद्धान्त पहले दृश्य काव्य का और बाद में श्रव्य और दृश्य दोनों काव्य विधाओं का सब प्रमुख तत्व माना गया। भारतीय समीक्षा क्षेत्र की यह सबसे बड़ी देन है। यही सिद्धान्त सबसे प्राचीन भी और सबसे अर्वाचीन भी है। आज भी इसकी प्रतिष्ठा है। समीक्षा के पाश्चात्य मान दण्डों के साथ तुलना करने पर भी यह सिद्धान्त उपादेय ही ठहरा है। अस्तु।

संस्कृत समीक्षा का दूसरा मार्ग अलंकार सम्प्रदाय का है जो लगभग तीन सौ वर्ष तक—ईसा की छठी शती से लेकर आठवीं तक साहित्य मनीषियों की मीमांसा का विषय बना। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि। भामह को इसका जन्म दाता कहा जाता हैं। श्रव्य काव्य की समीक्षा में इसी सम्प्रदाय का सर्व प्रथम अवतार हुआ था। इसीलिए आगे चलकर सामान्य रूप से काव्य समीक्षा के समस्त शास्त्र को 'अलकार शास्त्र' कहा जाने लगा चाहे उसमें रस सिद्धान्त का प्रतिपादन हो या ध्वनि, औचित्य आदि किसी अन्य मार्ग का। अलंकारवादी समीक्षा दृष्टि का भी संस्कृत के आचर्यों में बड़ा प्रचलन रहा। ध्वनि अथवा रस सिद्धान्त की स्थापना के बाद भी जयदेव (चन्द्रालोक ग्रन्थ में) अप्पय दीक्षित (कुवलयानन्द में) आदि विद्वान इसकी पुन: स्थापना के प्रयत्न में लगे रहे। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के हिन्दी काव्य काल में अनेक कवियों एवं आचार्यों ने इस सिद्धान्त की व्याख्या की और अपने काव्य प्रणयन में उसका अनुसरण किया। इसके अनुयायी विद्वान् कहीं-कहीं अब भी देखे जाते हैं।

संक्षेप में यह सिद्धान्त काव्य की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति, इसके अनुसार, अलंकृत होनी चाहिए। वह दैनिक जीवन की भाषाभिव्यक्ति से भिन्न होती है। वह भिन्नता भी अलंकारों की है। आगे चलकर इस सिद्धान्त की धारा दुहरे रेगिस्तान मे फँसकर सूख गई। एक तो अलंकारिकों ने चमत्कार पूर्ण काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकारों के नामकरण द्वारा उसे इयत्ता की सीमा में बांध दिया; यद्यपि यह सीमा सदा टूटती रही। अलंकारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। दूसरे बाद के आचार्यों ने अलंकार की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तत्व गुण, ध्वनि या रस की खोज कर ली और उनकी तुलना में अलंकार जो अंगरागजन्य लालिमा की भाँति काव्य का अविभाज्य तत्व माना जाता था। बाद में वह रस की तुलना में हारादि की भाँति शोभावर्धक माना जाने लगा, शोभाजनक नहीं। फलत: उसका समन्वय भावतत्व के सहायक अंग के रूप में कर दिया गया।

अलंकार तत्व सामान्य रूप में उक्ति सौन्दर्य का नाम था पर जैसा ऊपर बताया गया है वह आगे चलकर उपमा, रूपक आदि की सीमित परिभाषाओं मे आबद्ध हो गया। इस त्रुटि को दूर करने और सौन्दर्य तत्व

को विशेष रूप में समझाने के अभिप्राय से लगभग नवीं शताब्दी में आचार्य कुंतक (अथवा कुंतल) ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की उद्भावना की। इस पर उन्होंने 'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक ग्रन्थ लिखा। सामान्य रूप से यह सिद्धान्त अलंकार वाद का विस्तार समझा जाता है और आगे चलकर हुआ भी यही। वक्रोक्ति एक अलंकार विशेष मान लिया गया। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण तत्व बताकर उसे बड़ा व्यापक रूप प्रदान किया है। अलंकार सौन्दर्य, वर्ण, शब्द और वाक्य के अन्तर्गत देखा गया है। वर्ण के अन्तर्गत अनुप्रास, शब्द के अन्तर्गत यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार और परिकर, परिकरांकुर आदि अर्थालंकार आते हैं। शेष अलंकार अर्थगत हैं जो वाक्य के अन्तर्गत आते हैं। पर कवि कर्म की विचित्र रचना यहीं सीमित नहीं हो जाती। वह इनसे भी अधिक विस्तृत रूप में काव्य के प्रकरण एवं समूचे प्रबंध में भी देखी जा सकती है। कवि जो अपनी कल्पना के बल से प्रसिद्ध कथा में नवीन प्रकरणों की उद्भावना करता है या उन्हें नये ढंग से उपस्थित करता है वह भी काव्य का सौन्दर्य है। शकुन्तला नाटक में दुर्वासा के शाप का प्रकरण और रामचरित मानस में केवट प्रसंग कवियों की अपनी अपनी कल्पना सृष्टि हैं। इन्हें प्रकरण वक्रता कहा जायगा। जब इसी प्रकार कवि समूचे प्रबन्ध काव्य में एक व्यापक संदेश की व्यंजना करना चाहता है तो उसके अनुसार वह समूचे प्रबंध में एक असाधारण वक्रता का संन्निवेश करता है। उदाहरण रूप में जायसी का पद्मावत और प्रसाद की कामायनी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रबंध काव्य में घटनाओं का, संयोजन प्रारम्भ, अन्त और दृश्य एवं घटनाओं के वर्णन आदि में जो असाधारणता रहती है उसे कुंतक की प्रबंध वक्रता समझना चाहिये।

इस प्रकार कुंतक काव्य की छोटी से छोटा और बड़ी से बड़ी अभिव्यक्ति को वक्रता कहकर अलंकार तत्व की ही एक गम्भीर और व्यापक व्याख्या उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार वाणी के दो मार्ग हैं—ऋजु और वक्र। जीवन की सहज, सरल व्यावहारिक भाषा ऋजु मार्ग की होती है। इससे वक्ता दूसरे को बोध कराता है। काव्य की भाषा भाव को व्यक्त करती है। इसलिये वह वक्र होती है। इस का लक्ष्य दूसरे को भाव की अनुभूति कराना होता है। यह वक्रता भाषा के लघुतम अवयव से लेकर महत्तम

अवयवों में संलक्ष्य रहती है। उसे छः संस्थानों में देखा जा सकता है:—वर्ण, पदपूर्वार्ध, पदपराध, पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबंध। अर्थालंकार वाक्य वक्रता के अंतर्गत आते हैं। काव्यगत अभिव्यक्ति की असाधारणता को अनुप्रास, उपमा आदि की इयत्ता में सीमित नहीं किया जा सकता। उसके रूप अनन्त और भेद अगण्य हैं। इसलिये सामान्यतया उसे वक्रता कहकर समझना ही सही है। अलंकार के नामकरण से समस्त कवि कर्म की न सही व्याख्या होती है और न पूरा बोध। कुंतक की यही अभिसंधि है। उनकी यह उद्भावना बड़ी मौलिक और व्यापक है। पर अलंकार मार्ग की भाँति काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की ही इसमें मीमांसा हुई है यद्यपि प्रसंगवश इन्होंने अन्य समस्याओं पर भी विचार किया है। इसलिये वक्रोक्ति सिद्धांत को अलंकार सिद्धांत का ही एक प्रस्तार समझा जाता है। वास्तव में अलंकार मार्ग की सीमाओं से कुतंक को जो असंतोष हुआ था वह साहित्य समीक्षा के विकास का द्योतक है।

ईसा की नवीं शती के आसपास ही ध्वनि सिद्धांत आया। इसके उन्नायक आचार्य आनंदवर्धन हैं। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ में इस सिद्धांत की स्थापना की है। ग्रन्थ कारिका और वृत्ति दो भागों में लिखा गया है। दोनों ही आचार्य आनंदवर्धन की कृति हैं। उनके प्रतिपादन से स्पष्ट पता चलता है कि इनसे पहले ध्वनि-तत्त्व काव्याभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वीकृत नहीं था। वैयाकरण लोग स्फोट के रूप में शब्दार्थ विवेचन के प्रसंग में इसको मानते थे। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्य पदीय' ग्रन्थ में और महाभाष्यकार पातंजलि ने महाभाष्य में इसका प्रतिपादन किया है। यहीं से प्रेरणा लेकर आनंदवर्धन ने इसे काव्य के क्षेत्र में प्राणतत्त्व कहकर उतारने की मौलिकता दिखाई।

ध्वनि शब्द या वाक्य की एक क्रिया विशेष का नाम है जो कवि या वक्ता के विलक्षण शब्द संयोजन या वाक्य रचना से उत्पन्न हो जाती है। यह वाक्य में अपना कार्य करती है अकेले शब्द में नहीं। इससे वाक्य प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त दूसरे छिपे अर्थ की भी प्रतीत करने लगता है। वह अर्थ कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट सा होता है। वह प्रतीव भी प्रतिभा संपन्न व्यक्ति को ही होता है। स्थूल बुद्धि वाले को नहीं। ऐसे अर्थ को व्यंग्य कहते हैं। उसकी वाक्य में स्थिति ऐसी रहती है जैसे सुन्दरी के शरीर में लावण्य की या मोती में आभा की। किसी एक अवयव में कहीं भी नहीं रहता। वाक्य में सर्वत्र छिपी रहती है।

और सरलता से समझें तो यों समझ सकते हैं कि प्रत्येक शब्द में तीन शक्तियाँ रहती हैं :—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा से शब्द प्रसिद्ध अर्थ को बताता है। लक्षणा से किसी ऐसे अर्थ की प्रतीति कराता है जो अभिधा के अर्थ से सम्बद्ध हो और उसके बिना आए वाक्यार्थ असंगत बन रहा हो। इसके बाद व्यंजना से ऐसे अर्थ का भी मान हो जाता है जो न संबद्ध होता है और न असंगति के बाद का। ऐसे विलक्षण अर्थ की प्रतीत में सहायक बनता है प्रसंग। प्रसंग के अंतर्गत वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य का असाधारण गठन, देश, काल आदि आते हैं।

ध्वनिवादियों ने इस सत्य का भी पया लगाया कि भाव कभी भाषा का अभिधेय अर्थ नहीं होता सदा ध्वनि से ही आता है। साहित्य में भाव तत्व का महत्व अनिवार्य है अतः उनका आग्रह है कि ध्वनितत्व ही काव्य का प्राण है।

ध्वनिकार ने यह भी दिखाया है कि अलंकारों में भी यदि ध्वनि विद्यमान हो तभी वे वाणी की शोभा बन सकते हैं अन्यथा नहीं। ध्वनि के सहारे वे भाव से संबद्ध होते हैं नहीं तो अभिव्यक्ति में ऊपर से चिपकाये से उसका भार बन जाते हैं। ध्वनि की स्थापना से काव्य में भाव तत्व को गौरव मिला और इसी में से रस सिद्धान्त का विकास हुआ। ध्वनि की सीमा में वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि और भाव ध्वनि सभी आ जाते हैं और उदारतावश आनन्दवर्धन उस स्थल को भी कविता कहने को तैयार हैं जिसमें ध्वनि गौण हो। बल्कि चमत्कार के बल पर बिना ध्वनि के भी कविता हो सकती है। अर्थात् उनके अनुसार चमत्कार और ध्वनि दो तत्व वाणी को काव्य बनाते हैं। इनमें से ध्वनि श्रेष्ठ है चमत्कार निकृष्ट। इस प्रकार आनन्दवर्धन समन्वयवादी उदार आलोचक हैं। उन्होंने काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष की गम्भीर और वैज्ञानिक समीक्षा की पद्धति निकाली।

सिद्धान्त विचार

ऊपर जिनका निर्देश हुआ है वे चारों मार्ग ईसा की १० वीं शताब्दी तक प्रतिष्ठापित हो चुके थे। उनका अनुवर्तन आचार्य तथा कवि करने लगे थे। आचार्य क्षेमेन्द्र का कार्यकाल इसी समय आया। उन्होंने अपने

काव्यों में जीवन के यथार्थ रूप की व्याख्या की है। अतः यह स्वाभाविक था कि उनकी अभिरुचि पहले के आदर्शवादी समीक्षा मार्गों से तृप्त न रही। उन्होंने काव्य का मूल्यांकन भी यथार्थ दृष्टि से करने का प्रयास किया। काव्यों में उन्होंने समाज की दुर्बलताओं, अनौचित्यों पर व्यंग्य कसे हैं और पवित्र औचित्यपूर्ण जीवन की ओर निश्चित संकेत किये हैं। इसलिए उनकी विवेकशील मनीषा ने यह मानकर कि काव्य जीवन का ही प्रतिरूप है और जिस प्रकार औचित्य पूर्ण जीवन श्रेष्ठ है उसी प्रकार काव्य भी औचित्यपूर्ण ही श्रेष्ठ है—यह सिद्धान्तित किया कि औचित्य काव्य का स्थिर जीवित है भले ही काव्य रस सिद्ध हो। 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'। स्पष्ट है कि उन्होंने पुरानी परम्पराओं को दूर रखकर नए सिरे से काव्य का विचार किया था। औचित्य तत्व की काव्य में मान्यता तो पहले आचार्यों ने भी की थी। पर उसे वे काव्य के अनेक तत्वों में से एक तत्व मानते थे, प्रमुख नहीं। क्षेमेन्द्र ने उसे काव्य के क्षेत्र में आत्म पदवी प्रदान की है। इसलिये इसे सर्वोपरि मान्यता प्रदान करने तथा काव्य की यथार्थ दृष्टि से आलोचना करने का श्रेय इन्हीं को है। अब हम पुराने आचार्यों के ग्रन्थों में औचित्यतत्व का पता लगाते हुये इस सिद्धान्त की स्पष्ट रूप रेखा व्यक्त करने का प्रयत्न करेंगे।

भरत – आचार्य भरत ने नाटक साहित्य का विचार किया है। उसे लोक वृत्त का अनुकरण कहते हुये लोक को ही अभिनय के लिये सर्व प्रमुख प्रमाण बताया है। लोक के स्वरूप—रूप, वेष, अवस्था, क्रिया आदि को एक रूप तथा अपरिवर्ती नहीं कह सकते। इसलिये जो जिसके सदृश हो, जब जैसा होता हो, वैसा ही अनुकरण करना चाहिये, यह सारांश भरत के नियम का निकलता है। इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने नाटक का निकटतम सम्पर्क लोक से किया है। उसे परखने के लिये तथा उसके आदर्श के रूप में लोक को ही एक मात्र प्रमाण समझा है। 'जो लोक सिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोक के स्वभाव से हुआ है अतः नाट्य प्रयोग में लोक ही प्रमाण है, प्रजा का शील एक सा नहीं होता। नाट्य की प्रतिष्ठा शील में ही है। इसलिये नाट्य का प्रयोग करने वालों को लोक का ही प्रमाण मानना चाहिये।'[1] इसीलिये पात्रों के अनुसार भाषा, वेष आदि का उन्होंने निश्चय किया है। जो जैसा पात्र

1—नाट्य शास्त्र अध्याय २६ श्लोक ११३, ११९।

हो उसी के उचित उसकी भाषा, वेष, चरित्र आदि होने चाहिये। उनकी स्पष्ट नीति है कि 'वय के अनुरूप वेष होना चाहिये, वेष के अनुरूप चलना-फिरना; चलने-फिरने के अनुरूप पाठ्य हो तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय हो।'

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः,
वेषानुरूपश्च गति प्रचारः।
गति प्रचारानुगतं च पाठ्यम्,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्चकार्यः।[1]

वेष के विषय में और स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा है कि 'देश के अनुसार यदि वेष न हों तो वह शोभाजक नहीं होगा। यदि मेखला गले में पहनी जाय तो उससे हँसी ही होगी।

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बधेच हास्यायैवोपजायते।

इसी विचार को क्षेमेन्द्र ने और अधिक बढ़ाकर कहा है कि—कण्ठ में मेखला, नितंबों पर चंचलहार. हाथों में नूपुर तथा चरणों में केयूर पहनने से, इसी प्रकार प्रबल पर शौर्य तथा शत्रु पर करुणा दिखाने से किसकी हँसी न होगी। अलंकार और गुण बिना औचित्य के रुचिकर नहीं बनते।

कण्ठे मेखलया नितंब फलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुर बंधनेन चरणे केयूरपाशेनं वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन बिना रुचि न तनुते नालंकृतिर्नोगुणाः।

इससे स्पष्ट है कि भरत ने नाट्य के प्रसंग में औचित्य का पर्याप्त आदर किया हैं। नाटचशास्त्र सबसे पहला समीक्षा ग्रन्थ है। वहीं पर औचित्य का इस रूप में समादार सिद्ध करता है कि यह तत्व यहाँ के काव्यालोचकों की दृष्टि में पहले से ही रहा है।

१—वही १४। ६८

दण्डी—आचार्य दण्डी ने स्पष्ट रूप से तो नहीं पर व्यंजना से यह यह व्यक्त किया है कि काव्य में औचित्य का स्थान है। उपमा के दोषों के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि यदि 'धीमान् अर्थात् सहृदयों को उद्वेग न हो तो उपमान उपमेय के लिंग और वचनों का भिन्न रूप होना अथवा उनका एक की अपेक्षा दूसरे का हीन किंवा अधिक होना कोई दोष नहीं'।

न लिंग वचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालम् यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

इससे यही व्यक्त होता है कि दोष के होने न होने का विनिगमक सहृदयों का उद्वेग है। स्पष्ट है कि वह अनौचित्य से ही होता है। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने गुण शब्द का अर्थ औचित्य किया है। 'अन्वर्थं गुणपदम् औचित्य परम्।' इसके आधार पर पहली कारिका में भी आचार्य का संकेत औचित्य की ओर है - यह कहा जा सकता है। इस प्रकार असाक्षात् पद्धति से दण्डी ने काव्य में औचित्य को स्वीकारा है।

आनन्दवर्धन—आनन्द वर्धन ने अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता एवं विस्तार के साथ इसका प्रतिपादन किया है। कविता के उन्होंने दो प्रकार के दोष बताये हैं—व्युत्पत्ति (ज्ञान) के न होने से तथा प्रतिभा के न होने से। इनमें पहला साधारण और आहार्य है। वह प्रतिभा के बल पर छिप भी सकता है। इसका उदाहरण देते हुये उन्होंने बताया है कि कालिदास ने शिव पार्वती का जो शृङ्गार वर्णन मानवीय भूमि पर किया है वह परम्परा की अवहेलना करने से अव्युत्पत्तिकृत दोष है। पर उसके वर्णन में इतनी चारुता तथा स्वाभाविकता है कि वह दोष नहीं प्रतीत होता। प्रतिभा के चमत्कार ने दोष को छिपा दिया। फिर प्रश्न उठता है कि किसी शैली के गुणयुक्त या दोषयुक्त होने का निर्णय किस आधार पर किया जाय? उसका विनिगमक क्या हो? इसके उत्तर में आचार्य ने बताया है कि वक्ता और बोद्धव्य का औचित्य इसका नियामक है।[1]

---

1 - ध्वन्यालोक ३ । ५

इसके अतिरिक्त विषय के अनुसार शैली का नियमन करते हुये एक दूसरे स्थल पर आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से रसगत औचित्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि 'विषय सम्बन्धी औचित्य भी शैली का नियंत्रण करना है। भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्यों में वह भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जिस गद्य में छन्दादि का कोई नियम नहीं होता वहाँ भी वह औचित्य शैली का नियामक बनता है अथवा यों कहना चाहिये कि श्रेष्ठ रचना में सर्वत्र रसगत औचित्य का समाश्रयण होता है। अन्त में इस प्रसंग का सारांश देते हुये आचार्य ने फिर कहा है कि 'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग होने का और कोई कारण नहीं है। औचित्य का अनुसरण करना ही रसयोजना का परम रहस्य है।[1]'

आनन्द वर्धन ने छः प्रकार के औचित्यों का वर्णन किया है :—रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य, एवं रीत्यौचित्य। इनमें से एक-एक का परिचय इस प्रकार है।—

रसौचित्य—इसके नियामक सिद्धान्त १० हैं। रस को मुख्य प्रतिपाद्य बनाने के लिये –

(१) शब्द और उसके अर्थ का नियोजन औचित्य पूर्ण हो।

(२) सुप्, तिङ्, प्रत्यय, वचन, कारक, काल, लिंग, समास, आदि का प्रयोग उचित हो।

(३) प्रबन्धकाव्य में सन्धि, संध्यंग, घटना आदि का प्रयोग रसानुकूल हो।

(४) विरोधी रस के अंग विभावादि का वर्णन नहीं करना चाहिये।

(५) विरोधी दो या अनेक रसों का एक स्थल में वर्णन नहीं करना चाहिये।

(६) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तृत वर्णन नहीं करना चाहिये जिससे मुख्य रस दब जाय।

(७) अंगरस और अंगीरस का आपस में सम्बन्ध समान अनुपात से हो। अंग कम तथा अंगी अधिक।

१—ध्वन्यालोक ३। ७–९

(८) अन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता होनी चाहिए।

(९) प्रबन्ध काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर होना चाहिये।

(१०) विभाव अनुभाव, संचारी आदि के वर्णन में औचित्य की रक्षा होनी आवश्यक है।

अलंकारौचित्य—इसके पाँच भेद हैं।

(१) अलंकार का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो तथा प्रतिभा का पुट वहाँ रहे।

(२) अलंकार लाने के लिये जानकर प्रयत्न न करना चाहिये।

(३) अलंकार भावों की पुष्टि में प्रयुक्त होने चाहिये।

(४) वे काव्य में गौण रहें मुख्य नहीं। ऐसा न हो कि पाठक का ध्यान मुख्य विषय से हटकर अलंकार के चमत्कार पर ही बना रहे।

(५) यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार कोरा चमत्कार दिखाने के लिये स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त न होने चाहिये। वे काव्य के बन्ध में संश्लिष्ट और समन्वित हों।

गुणौचित्य – गुणों का सम्बन्ध रसों से हैं। इनकी अभिव्यक्ति विशिष्ट प्रकार के वर्णों द्वारा होती है जैसे कोमल तथा मधुर वर्णों द्वारा माधुर्य की तथा कठोर वर्णों द्वारा ओज की। इसलिये गुणों को प्रकट करने के लिये ऐसे वर्णों का प्रयोग होना चाहिये जो स्वयं उनके और रस के अनुकूल हों।

संघटनौचित्य—संघटना का आधार गुण हैं और उपास्य है। रस। यह पदों की उचित रचना में अवस्थित है। इसके औचित्य के लिये चार बातें आवश्यक है—

(१) संघटना रसानुकूल हो।

(२) पात्र की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के अनुसार इसकी योजना हो।

(३) इसके प्रयोग में प्रतिपाद्य विषय का ध्यान रखना चाहिये।

(४) काव्य की प्रकृति का विचार कर संघटना का प्रयोग होना चाहिये। नाटक में लम्बे-लम्बे समासों का व्यवहार उचित नहीं।

प्रबन्धौचित्य – आनन्दवर्धन का यह प्रसंग बड़ा मार्मिक है। इस औचित्य के नियामक तत्व इस प्रकार हैं।

(१) प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में समानुपात रहना चाहिये।
(२) वर्ण्य वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विपरीत नहीं होना चाहिये।
(३) जो घटनायें काव्य के मुख्य ध्येय में बाधक सिद्ध होती हों, उन्हें परिवर्तित कर देना चाहिये।
(४) प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार अंगी रस को दृष्टि में रखकर करना चाहिये। ऐसा न हो कि उसके अतिविस्तार से प्रमुख भाव दब जाय।
(५) वर्णन विषय से दूर न हटने चाहिये।
(६) अंग घटना का इतना विस्तार न किया जाय कि वह अगी बन जाय।
(७) प्रबन्ध काव्य में घटनाओं का निर्वाचन होना चाहिये। प्रकृत रस के अनुकूल घटनाओं का ही वहाँ वर्णन न हो।
(८) पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिये।

रीत्यौचित्य—रीति का प्रयोग करते समय वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप का ध्यान सदा रखना चाहिये। इनके अनुकूल वह हो प्रतिकूल नहीं।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि आनन्द वर्धन ने औचित्य का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता तथा विस्तार के साथ किया है। क्षेमेन्द्र को इन्हीं से प्रेरणा मिली थी।

इसके अनन्तर वक्रोक्ति मार्ग के प्रवर्तयिता कुंतक ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवितम्' में किया है। उन्होंने औचित्य का लक्षण तथा महत्व दिखाते हुये कहा है कि—'जिसके द्वारा स्वभाव का महत्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वक्ता किंवा श्रोता के शोभातिशायी स्वभाव के कारण वाच्यवस्तु आच्छादित हो जाती हो वह औचित्य है।'[1] यहाँ ग्रन्थकार का यही आशय है कि किसी वर्ण्य वस्तु का

१—वक्रोक्ति जीवित १, ३८; ३८।

स्वभाव यथार्थ रूप में वर्णित किया गया है तो वह औचित्य है। इसके विपरीत कहीं यदि वक्ता या श्रोता का स्वभाव अधिक महत्वपूर्ण होता है और उसकी तुलना में वस्तु का स्वभाव हीन होता है तो वहाँ वस्तु का वर्णन श्रोता या वक्ता के स्वभाव की छाया में करना ही उचित है। स्पष्ट रूप से यहाँ कुंतक की दृष्टि वर्ण्य, वर्णयिता और श्रोता पर है। उनके वर्णन में परिस्थिति पर ध्यान देने का निर्देश आचार्य ने किया है। इसमें औचित्य की मान्यता स्पष्ट है।

यद्यपि कुंतक आनन्दवर्धन से अर्वाचीन हैं और सम्भावना होती है कि उनके ग्रन्थ में औचित्य का विवेचन अधिक विशद तथा विस्तृत होगा, पर ऐसा नहीं मिलता। कुंतक के अनुसार वह शैली के अनेक गुणों में से एक है, वह भी बहुत व्यापक नहीं है। इस विषय में वे आनन्दवर्धन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। आनन्दवर्धन इसे संघटना का नियामक ही मानते हैं। यह बताया जा चुका है। पर उन्होंने बड़े विस्तृत तथा गम्भीर ढंग से इसकी व्याख्या की है। कुंतक की दृष्टि वक्रता पर इतनी केन्द्रित है कि वे काव्य के दूसरे तत्व का महत्व नहीं आंक सकते।

इसके अनन्तर महिम भट्ट आते हैं जिन्होंने अपने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में ध्वनि मार्ग की खण्डनात्मक आलोचना की है। उन्होंने औचित्य के शब्दौचित्य एवं अर्थौचित्य दो भेद बताते हुए दूसरे को यह कहकर छोड़ दिया है कि इसका वर्णन आनन्दवर्धन कर चुके हैं। शब्दौचित्य को फिर उन्होंने पाँच भेदों में विभक्त किया है—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पुनरुक्ति और अधिकपदता। ये पाँचों दोष हैं। वास्तव में इन्होंने औचित्य का प्रसंग छोड़कर अनौचित्य का वर्णन किया है। 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'। फिर भी प्रकृत में यह कहा जा सकता है कि महिमभट्ट जैसे तार्किक भी औचित्य तत्व की उपेक्षा नहीं कर सके। दोषों के द्वारा ही सही, उसका वर्णन उन्होंने किया है। यहाँ विशेष विचारणीय यह है कि महिमभट्ट ने औचित्य को दोषाभाव समझा है। गुणों का भी समीक्षा की परम्परा में कुछ ऐसा ही इतिहास रहा है। रीतिमार्गी लोगों ने इनका पृथक महत्व समझा था पर आगे आने वाले दूसरे लोगों ने उन्हें दोषाभाव में अन्तःपातित कर लिया। महिमभट्ट से लेकर औचित्य का भी वैसा ही भाग्य बन गया। वह दोषाभाव बनने लगा। क्षेमेन्द्र ने इसका स्पष्ट

खण्डन किया है। यह दोष भाव नहीं है, स्वतन्त्र विध्यात्मक तत्व है। महिम-भट्ट का विचार-विमर्श इस सम्बन्ध में अधिक गम्भीर नहीं प्रतीत होता है।

इसके अनन्तर औचित्य की विवेचना और मूल्यांकन क्षेमेन्द्र द्वारा ही हुआ है। उन्होंने इसे समस्त काव्य जगत् को परखने का आधार मानकर इस पर एक समीक्षा मार्ग की स्थापना की है। स्वतन्त्र पुस्तक इस पर लिखी है। पुस्तक में यद्यपि पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया गया है फिर भी वे इसे थोड़ा समझते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तक को 'चर्चा' कहा है।

यह पुस्तक उन्होंने बुभुत्सु कवियों की शिक्षा के लिये लिखी है। इसमें विद्वानों का सा वाग्विलास, पाण्डित्य प्रदर्शन की इच्छा जैसा कुछ नहीं है। पुस्तक का संगठन उपयोग की दृष्टि से हुआ है। फलतः इसका व्यावहारिक मूल्य बड़ा है।

मुख्य विषय पर आने से पहले क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि औचित्य रस का जीवित है। यदि वह काव्य में न हो तो वहाँ अलंकारों का प्रतिपादन करने तथा गुणादि की मिथ्या योजना करने से कोई लाभ नहीं होता। ऐसी रचना काव्य का पद नहीं ले सकती। अलंकार, अलंकार ही हैं। इसी प्रकार गुण भी गुण ही हैं। इनका महत्व इतना नहीं कि जिसके आधार पर रचना को काव्य कहा जा सके। काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है।

इस प्रतिज्ञा से स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य गुण और अलंकारों से भिन्न तत्व है। इसका काव्य में वही स्थान है जो शरीर में जीवित का। जिन लोगों ने यह पदवी (आत्मा) रस को प्रदान की थी उन्हें भी क्षेमेन्द्र ने उत्तर दिया है कि काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है। रस यदि काव्य में प्राण पद पायेगा भी तो अस्थिर रूप से। काव्य औचित्य रहित होकर यदि गुण, रस या अलंकारों से युक्त होगा तो वह निर्जीव ही होगा।

अलंकार का कार्य है काव्य में शोभा बढ़ाना। यह तभी हो सकता है जब उसका विकास औचित्य पूर्ण हो। इसी प्रकार गुण भी औचित्य के साथ ही कृतकार्य हो सकते हैं। इसके बिना अलंकारों को अलंकार तथा गुणों को गुण नहीं कह सकते। अतः औचित्य का काव्य में मूर्धन्य स्थान है। इसके मानने की उपर्युक्त आवश्यकता है।

लक्षण—इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है। कोई वस्तु यदि दूसरी वस्तु के अनुरूप अर्थात् सदृश होतीं है तो आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं। उचित के भाव तत्व को ही औचित्य कहा जाता है।

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किलयस्य यत्।
उचितस्यहि योभावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

इसमें आचार्य का तात्पर्य यह है कि काव्य का सर्वातिशायी गुण सौन्दर्य होता है। वह कोई अनपेक्ष असंपृक्त पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है। किसी वस्तु को उसी में सीमित रखकर सुन्दर या असुन्दर नहीं कहा जा सकता। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र स्मृति के आधार पर बनाकर उसके आसपास का वन का वातावरण इसलिए चित्रित करना आवश्यक समझा कि उसके सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी। इसीलिये चित्र में शकुन्तला के अतिरिक्त मालिनी नदी; उसके सैकत में प्रेममग्न हंसों के जोड़े, उसके दोनों तटों पर बैठे मृग, मृगियां, वृक्ष की शाखा में लटकते हुये वल्कल वस्त्र तथा उसके नीचे काले मृग के सींग से अपना बाँया नेत्र खुजाती हुई मृगी को चित्रित किया। अपने वातावरण के साथ अब सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। उसके शिवत्व अथवा अशिवत्व की स्थापना भी दूसरी वस्तुओं के सहसंगठन से होती है। जो वस्तु दूसरों के लिये श्रेयस्कर है वह शिव है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि कोई अपने सहयोगी पदार्थों में समंजस रूप से विन्यस्त है तो वह सुन्दर है और आनन्दक भी है अन्यथा नहीं। सुवर्ण के साथ काँच का संयोग जितना सुन्दर होता है उतना चाँदी का नहीं। रंगों के परस्पर संयोजन से यह बात और अधिक स्पष्ट रूप में अनुभव की जाती है। काव्य में भी संयोजन क्रिया की प्रमुखता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है। जीवन में अनेकत्र अनेकदा दृष्ट एवं अनुभूत पदार्थों का किसी भाव या कथा के सहारे समंजस संयोजन किया जाता है। इस सामंजस्य को—सादृश्य अथवा संतुलन को ही औचित्य कहा जाता है। यह सापेक्ष वस्तु है। नीम का चारा गौ के लिये असदृश और ऊँट के लिये सदृश है। अधिक भूषणों का उपयोग ग्रामीण स्त्री के लिये उचित एवं नागरिका के लिये अनुचित है। 'भट बायरे ठाकुर एकन को अरु एकन को पथु दीजतु है।' इस प्रकार औचित्य एक विध्यात्मक तत्व सिद्ध होता है। यही समस्त

सौन्दर्य का मूल है । अतः यह मानना पड़ता है कि काव्य में प्रयुज्यमान पदार्थों का परस्पर में सादृश्य, अनुरूपता हो, यह अत्यन्त अपेक्षित है। लक्षण में क्षेमेन्द्र ने 'आचार्य' शब्द से दूसरे लोगों का भी उल्लेख किया है । इससे अनुमित होता है कि इनसे पूर्व तथा समकाल में समीक्षा की इस दृष्टि की पर्याप्त मान्यता थी । प्रतिपादन में क्षेमेन्द्र की दृष्टि औचित्य तत्व की व्यापकता दिखाने पर विशेष रही है । प्रतिज्ञा में इसे गुण अलंकार एवं रस में विद्यमान बताकर इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए काव्य के २८ अङ्ग गिनाकर उनमें प्रत्येक में औचित्य की आवश्यकता सिद्ध की है । अंत में काव्य के अन्य अंगों में जिनका वे नाम निर्देश नहीं करते, इसे व्याप्त बताते हैं। परिगणित २८ स्थान ये हैं :—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबंधार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद, तथा (२८) काव्य के अन्य अनेक अंग । इन सब में अन्वयव्यतिरेक शैली से उदाहरण प्रत्युदाहरणों द्वारा प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध किया है । अन्तिम २८ वें तत्त्व काव्यांग का निर्देश मात्र करके छोड़ दिया। वे अनत हैं। कितनों का विश्लेषण विस्तार करते ?

उपर्युक्त २८ काव्य तत्त्वों का श्रेणी विभाजन कर यदि यह परीक्षा की जाय कि काव्यकला का कितना समाव इनके आभोग में होगया है तो हम विवेचन को सर्वांगपूर्ण पाते हैं । आचार्य ने काव्य के प्रत्येक संभाग में औचित्य की व्यापकता बड़े वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध की है । ये चार विभागों में विभक्त है—शब्द, काव्यशास्त्रीय तत्त्व, चरित्र तथा परिस्थिति । प्रत्येक में इस प्रकार श्रेणी बन्धन है :—

शब्द—पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात । =९

काव्यशास्त्र के तत्त्व—प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सारसंग्रह, तत्त्व, आशीर्वाद तथा काव्य के अन्य अनेक अंग । =८

चरित्र—व्रत, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम । =७

परिस्थिति—काल, देश, कुल, अवस्था। =४
=२८

इन्हें इस प्रकार देखें। काव्य को स्थूल रूप से अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से अभिव्यक्ति के अन्तर्गत शब्द और अर्थ आते हैं। अर्थ को भी पृथक न मानें तो कोई हानि नहीं। उसका विवेचन शब्द के ही अन्तर्गत हो जाता है समूची अभिव्यक्ति शब्द में समाती है। काव्य की अभिव्यक्ति को साधारण अभिव्यक्ति से विलक्षण, चमत्कारक, रसवती बनाने के लिये काव्य मर्मज्ञों ने काव्य के कतिपय अंगों की कल्पना की है। काव्य-शास्त्र उन्हीं के सहारे काव्य की मीमांसा करता है। यह काव्यगत अभिव्यक्ति की साजसज्जा का, आयोजन-नियोजन का साधन है। क्षेमेन्द्र के पहले दा विभागों में शब्द और काव्य तत्व में अभिव्यक्ति को १७ भागों में विश्लेषित कर औचित्य की उनमें व्याप्ति परखने का प्रयास है। हमें ध्यान करना चाहिये कि अनेक लब्ध प्रतिष्ठ काव्य मीमांसकों ने इनमें से एक-एक शब्द, अलंकार, रस आदि को लेकर ही काव्य की मीमांसा की है। उनकी तुलना में क्षेमेन्द्र की विचार-पद्धति कितनी विस्तृत लगती है ? अभिव्यंग्य में हम वर्ण्य व्यक्ति और इसकी परिस्थिति को ले सकते हैं। रस वादियों के आलंबन आश्रय, उद्दीपन इसमें आगये। भाव भी व्यक्ति की व्यक्ति या वातावरण के विषय में संवेदना है। क्षेमेन्द्र ने चरित्र विभाग से व्यक्ति और परिस्थिति विभाग से उसके सॉयोगिक वातावरण का ११ विभागों में विभाजन कर सर्वत्र औचित्य को दिखाया है। इसका अर्थ यही होता है कि आचार्य ने अपने प्रतिपादन मे व्यापक तथा वैज्ञानिक शैली को अपनाया है।

रस तथा कारक का अपेक्षा कृत अधिक विस्तार से विचार किया गया है; उसमें भी रस का सबसे अधिक। इसका कारण आनन्द वर्धन तथा अभिनव गुप्त का प्रभाव प्रतीत होता है। कारक तो संस्कृत में सात प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक पर विचार करने के विस्तार हो जाना स्वाभाविक है। रसगत औचित्य का लाभ दिखाते हुए क्षेमेन्द्र ने बताया है कि इससे रस की रुचिरता एवं व्याप्ति बढ़ जाती है। औचित्य से युक्त रस भावुक हृदय के समस्त देश में फैल जाता है। अन्यथा अनौचित्य अखरता रहता है और ऐसा लगता है मानों हृदय का कुछ भाग तृप्त और कुछ अतृप्त रह गया हो। रस गत औचित्य के रूप अनेक हैं। योग्य विभाव अनुभाव की योजना, भावों का उचित चुनाव, पात्र के अनुसार भाव की व्याख्या, आश्रय और आलंबन

की प्रकृति का विचार आदि। भाव वर्णन में परिस्थिति का ध्यान तथा अनेक भावों के परस्पर सम्मिश्रण में अनुरूपता का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। भावों के सम्मिश्रण में व्यास जैसे सहज कवि भी अनौचित्व दोष के भागी दीख पड़ते हैं। जिस प्रकार भोजन के रसों में सब रसों का सम्मिश्रण सब प्रकार से नहीं होता। उसमें कुशलता से अनुरूपता का संरक्षण करना पड़ता है। इसी प्रकार काव्य रसों के परम्पराश्लेष में औचित्य की रक्षा करनी चाहिये। अनौचित्य का थोड़ा स्पर्श होने से भी वैरस्य उत्पन्न हो जाता है।

इनकी उदाहरण देने की क्षमता भी विशेष प्रशंसनीय है। अपनी प्रत्येक बात के लिये वे उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण दोनों देते हैं और मन्तव्य की व्याख्या करते हैं। इस विषय में वे बड़े निःसकोच तथा उदार प्रतीत होते हैं। जिनके पद्य उदाहृत हैं उनके नाम दिये हैं। अपने तो ग्रन्थों तक का नाम उल्लिखित किया है। निःसंकोच इतने हैं कि कालिदास, व्यास, राजशेखर जैसे ख्यातनामा कवियों के भी दोष दिखाये हैं। उदार इतने हैं कि अपना दोष दिखाने में भी हिचके नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरी विशेषता इनके निभ्रांत निर्णयों की है। जो बात वे कहना चाहते हैं उसे दो टूक कहते हैं। विचारणा व्यावहारिक दृष्टि से की गई है। पाण्डित्य का प्रदर्शन अथवा शास्त्रों का प्रमाण देकर बात सिद्ध करने का प्रयास कहीं नहीं किया गया। वे अपने विचारों की सत्यता में भावुकों के अनुभवों का ही साक्ष्य ठीक समझते हैं।

अर्वाचीनों पर प्रभाव—क्षेमेन्द्र के अनन्तर आने वाले आचार्यों पर रससिद्धांत का प्रभाव बड़ा प्रबल था। इसलिए रस के अतिरिक्त अन्य किसी काव्यतत्त्व को उन्होंने आत्मस्थानीय महत्त्व नहीं दिया। फलतः औचित्य मार्ग जो क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित हुआ था, आगे चलकर फीका पड़ता गया। उसकी व्याप्ति गुण दोषों तक ही सीमित हो गई। मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण कभी दोष और दोष कभी गुण बन जाते हैं। यह उसके गुण दोषों की परीक्षा का विनिगमक बनने का प्रमाण है। रसादि से जो उसका सम्बन्ध था वह आगे चलकर हट गया।

भोज ने अपने विस्तृत ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इसका प्रासंगिक रूप से विवेचन किया है। अर्थ दोषों के अन्तर्गत औचित्य-विरुद्ध नाम का एक दोष उन्होंने माना है। इसी का औचित्य के कारण गुण रूप भी उन्होंने दिखाया है। एक और स्थान पर अलंकार विवेचन के अन्तर्गत औचित्य को भाषा तथा शैली का गुण स्वीकार किया है। वहाँ इसके निम्नलिखित छः भेद दिखाये हैं।

१—विषयौचित्य—जिसके कारण अलंकार यथार्थत: अलंकार बन सकता है।

२—वाच्योचित्य—अवसर के अनुकूल संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का व्यवहार करना।

३—देशौचित्य—देशानुसार भाषा का व्यवहार।

४—समयोचित्य—समयानुसार भाषा का व्यवहार।

५—वक्तृविषयौचित्य—वक्ता की दशा के अनुसार भाषा का प्रयोग।

६—अर्थौचित्य-विषय के अनुसार गद्य अथवा पद्य का प्रयोग।

विवरण से स्पष्ट है कि भोज औचित्य को काव्य के कतिपय अंशों का गौण अङ्ग समझते हैं। इसका काव्यात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं मानते।

हेमचन्द्र ने इसी प्रकार प्रसंगवश काव्यानुशासन में औचित्य का उल्लेख किया है। उन्होंने छायोपजीवन को अर्थात् दूसरे कवियों के पद, वाक्य, वाक्यांशों के अनुकरण को काव्यानुशीलन का एक उपाय बताया है। इसमें औचित्य रक्षण पर ध्यान दिलाते हुए व्यक्त किया है कि ऐसा न करने से कवि काव्यचौर्य का दोषी बन जाता है। दोषों के प्रकरण में विसन्धि अर्थात् संधि न करने को औचित्य वश गुण या दोषाभाव माना है। गुणों के प्रसंग में भी उन्होंने प्रतिपादित किया है कि यद्यपि गुणों में भाषा नियत होती है फिर भी वक्ता, वाच्य या प्रबन्ध के औचित्य से इसमें परिवर्तन हो जाता है। अन्त में यह भी साधारणतया कहा है कि दूसरे स्थानों में भी औचित्य का अनुसरण करना चाहिये।

इस विवरण से प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने औचित्य का विमर्श तो पर्याप्त किया है पर दिया उसे गौणपद ही है। इनके अनुसार इसका सम्बन्ध वक्ता, वाच्य तथा प्रबन्ध तीन तत्त्वों से है।

विश्वनाथ ने इसे गुण दोषों तक ही सीमित कर दिया है। उनके अनुसार गुण दोषों का निर्णय इसी के आधार पर होता है। सब के बाद अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ आते हैं। उन्होंने शब्द सामर्थ्य के प्रसंग में औचिती को काव्य का गुण माना है।

इस प्रकार संस्कृत के समीक्षा शास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि औचित्य का काव्य में थोड़ा बहुत मूल्यांकन सभी के द्वारा हुआ है। दण्डी ने अप्रत्यक्षत: इसका निर्देश किया है। आनन्द वर्धन ने इसके व्यापक महत्व को ठीक समझकर उसे उचित विस्तार प्रदान किया। कुंतक ने इसके महत्व को तो पहचाना पर काव्य में उसे गौणतत्व ही माना। महिमभट्ट ने इससे भी कम महत्व दिया। क्षेमेन्द्र ने उसे समस्त काव्य में व्याप्त समझकर उसके आधार पर एक स्वतंत्र मार्ग की स्थापना की। पर उनका कोई अनुयायी न हो सका। बाद में तो सभी विद्वान् रस सिद्धान्त के एक मात्र स्वीकर्ता बन गये। मम्मट, भोज, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ सब इसी श्रेणी के आचार्य हैं। इन लोगों ने औचित्य की सीमा केवल गुण दोषों तक ही स्वीकार की।

ऊपर के इतिहास से पाठक के मन में फिर एक संदेह उत्पन्न होता है। वह यह कि औचित्य को काव्य के अन्य गुणों के समान एक गुण मात्र मानना ठीक है जैसा बहुत से आचार्यों ने किया है या फिर काव्यात्मा मानकर कविता में इसका अनिवार्य महत्व स्वीकार करना उचित है जैसा कि क्षेमेन्द्र और आनन्द वर्धन ने किया है। समस्या पर फिर से विचार करना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने स्वयं इसका उत्तर दिया है। राजशेखर के काव्य पुरुष का रूपक लेकर वे कहते हैं कि कविता में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों का वही स्थान है जो मानव शरीर में सत्यवादिता, उदारता आदि गुणों का है। वे शरीर के विधायक तत्व नहीं हैं, विशिष्टता उत्पन्न करने वाले समवेत गुण हैं। अलंकार भी इसी प्रकार सांयोगिक पदार्थ है। उसके न होने से शरीर का विद्यमान महत्व घट नहीं सकता। सूना शरीर शरीर ही कहलायेगा कुछ और नहीं। हाँ, बिना अलंकार के उसकी शोभा न बढ़ पायेगी। गुणों का अभाव काव्य में कुछ हेयता ला देता है पर वह भी उसकी काव्य संज्ञा नहीं मिटा सकता। उदारता आदि के बिना भी पुरुष को पुरुष ही कहा जायगा।

इस शैली से रस का भी विचार करना चाहिये। रस काव्य को आत्मा माना गया है। पर क्षेमेन्द्र इस स्थापना से सहमत नहीं। उनके अनुसार रस का काव्य में वही स्थान है जो भोजन रसों का मानव शरीर में है। यों कहना चाहिये कि जीवित रहने के लिये शरीर और आत्मा दोनों की आवश्यकता पड़ती है। शरीर की रचना पृथ्वी आदि पाँच तत्वों तथा सात रसों द्वारा होती है। ये शरीर के विधायक तत्व हैं पर आत्मा इनसे भिन्न वस्तु है। वह भी शरीर धारण के लिये अनिवार्य है। रसों का सम्बन्ध शरीर से है। माना कि उस का महत्व असाधारण है। पर आत्मा शरीर को जीवन प्रदान करती है। काव्य में रस रसस्थानीय है और औचित्य आत्मस्थानीय। रस के रहते हुये भी यदि औचित्य नहीं तो काव्य निर्जीव है। रसाभास, रस–दोष आदि की यही स्थिति होती है। वे रस गत औचित्याभाव के नामान्तर हैं।

इसी प्रकार अनौचित्य तथा दोषों का अन्तर समझ लेना चाहिये। अनौचित्य काव्य के काव्यत्व का लोप कर देता है, उसके जीवन को हर लेता है। दोष केवल सौन्दर्य पर आघात करते हैं। कहीं उसे सर्वथा लुप्त कर देते हैं तो कहीं घटा देते हैं। पर मनुष्य असुन्दर रह कर भी है तो जीवित ही रहता है?

औचित्य के आधार पर काव्य मीमांसा का मार्ग दिखाकर क्षेमेन्द्र ने एक और बड़ी विशेषता की है। काव्य कला को जीवन के निकट ला दिया है। रस अलंकार आदि के सिद्धान्त कलात्मक आदर्शवाद के सिद्धान्त हैं। साधारण जीवन के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम है। इसीलिये इन्हें मानने वाले कवियों की रचनाओं में अतिवादिता दिखाई पड़ती है। जीवन का यथार्थ रूप उनसे बिलकुल छूट गया है। माघ, भट्ट नारायण, श्रीहर्ष आदि इसके प्रमाण हैं। इनके काव्यों में जीवन बहुत कम हैं, कला का प्रदर्शन ही सर्वप्रमुख है।

औचित्य जीवन प्रसूत गुण है। इसकी धारणा जीवन से प्राप्त होती है। यहाँ उचित और अनुचित का सतत संघर्ष चलता है। उचित ठहरता है और अनुचित तब तक लड़खड़ाता रहता है जब तक या तो वह उचित नहीं बन जाता या फिर नष्ट नहीं हो जाता है। इस देवासुर संग्राम में अन्तिम विजय देवों की ही होती है। अनौचित्य शरीर में विदेशी तत्व के समान [illegible] जीवन को विशृङ्ख-

लित, विचलित एवं अस्वस्थ बना देता है। इसके विपरीत जो उचित है वह सुन्दर मंगल और प्रिय लगता है। यह वह धुरी है जिस पर जीवन-चक्र घूमता है। नियम, अपवाद, विधान, स्मृति, सदाचार धर्म, नीति अध्यात्मिकता, दर्शन आदि सब इसी के घटे बढ़े उपनाम हैं। इसको काव्य का मूल तत्त्व मान लेने का अर्थ होता है काव्य और कला को जीवनमय बनाने का प्रयास। इसके सहारे कला आदर्शवाद तथा आत्म प्रधानता (Subjectivity) के स्वर्ग से उतर कर यथार्थवाद तथा विषयप्रधानता (Objectivity) की भूमि पर विचरण करने लगती है। वह व्यावहारिक बन जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्षेमेन्द्र के काव्य हैं जिनमें जीवन के यथार्थ रूप की विवृत व्याख्या है; जीवन को सुघड़ बनाने का विध्यात्मक सुन्दर प्रयास है।

औचित्यवादी के लिये समीक्षा के बहुत से झमेले समाप्त हो जाते हैं। उसका मार्ग सीधा हो जाता है। जो उचित है वह काव्य है। औचित्य की मात्रा पर ही काव्य का अधम, मध्यम, श्रेष्ठ होना निर्भर रहता है, और औचित्य का आधार? इसका आधार जीवन है जो सबको अनुभूत और प्रत्यक्ष है। फिर गुण, दोषों के विभाग उप-विभाग कर लम्बी संख्या बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। औचित्य के क्रोड मे ही ये सब समा जाते हैं। कविकण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र ने जो गुण—दोषों के अधिक भेद नहीं दिखाये, इसका कारण यही है। एक और तरह से विचार कीजिये—

काव्य का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है—रूप की दृष्टि से और भाव की दृष्टि से। भारतीय साहित्य के आलोचकों ने यही किया है। रीति, गुण, अलंकार आदि को महत्त्व प्रदान कर काव्य की आलोचना करने वाले विद्वान् उसके रूप का विवेचन करते हैं। और जिन लोगों ने रस, ध्वनि आदि को प्रमुखता देकर कविता की परख की है वे भाव पक्ष के द्रष्टा हैं।

भाव और रूप या अर्थ और भाषा में कौन सा व्याप्य है और कौनसा व्यापक—इसका विचार किया जाय तो पता चलता है कि साधारण लोक व्यवहार और काव्य जगत में इस दृष्टि से परस्पर विरोध रहता है। साधारण व्यवहार में रूप या भाषा व्यापक बनकर आती है। वह अपने में अर्थ को समाये रहती है। अर्थ की सीमा

भाषा की सीमा के अन्दर रहती है उससे परे नहीं। काव्य का क्षेत्र इसके विपरीत होता है। वहाँ भाव जगत अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और व्यापक रहता है। रूप या भाषा उसकी अपेक्षा में व्याप्य या लघुतर होती है। इसीलिये यहाँ लक्षणा तथा व्यंजना का आश्रयण किया जाता है। इन वृत्तियों द्वारा भाषा अपना सीमा-विस्तार बढ़ाती है और भाव सीमा को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। इसीलिये काव्य के शब्द, घटना या कथा आदि का मूल्य प्रतीक का होता है वाचक का नहीं। साधारण व्यवहार में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। वहाँ केवल अभिधा से ही कार्य चल जाता है। कहने का सार यही है कि काव्य में रूप व्याप्य होकर तथा भाव व्यापक होकर प्रयुक्त होता है। भावुक या विचारक जो यह अनुभव प्रायः किया करते हैं कि जितना उनके मन में है वह सब भाषा में नहीं आ पाया —इसका भी यही अर्थ है। इस प्रकार काव्य में दो परिधियाँ बनजाती हैं —रूप-परिधि और भाव परिधि।

रूप का विवेचन हमारे यहाँ अलंकार गुण या रीति के द्वारा हुआ है। इनमें से कोई भी एक इतना पूर्ण नहीं कहा जा सकता कि वह समूचे रूप की व्याख्या करले। इसी प्रकार रस, ध्वनि आदि भी समूचे भाव की व्याख्या नहीं कर पाते। यह गुण तो किसी में भी नहीं है कि अपने क्षेत्र से बाहर की वस्तु को भी ग्रहण करे, अर्थात रस आदि रूप की व्याख्या करे या अलंकार आदि भाव का भी आकलन करें। समीक्षा ग्रन्थों में जो रसवाद के अन्तर्गत भाषा आदि का और अलंकार आदि के अन्तर्गत भाव आदि का विवेचन किया गया है वह अपने-अपने सम्प्रदाय को पूर्णता प्रदान करने के लिये सांयोगिक सम्पत्ति का किसी न किसी सम्बन्ध द्वारा समाहरण मात्र है।

फिर प्रश्न उठता है कि कोई ऐसा भी तत्व अलोचकों की दृष्टि में आया है जो भाव और भाषा, रूप और रस दोनों पर समान व्याप्ति रखता हो? वह इतना व्यापक हो कि दोनों क्षेत्रों के गुण उसमें समा जांय? वह तत्व औचित्य है। इसके द्वारा अलंकार, गुण रीति की भाँति रस, ध्वनि आदि सबकी व्याख्या हो जाती है। इसीलिये कहा गया है कि 'ध्वनि, रस और अनुमिति औचित्य का अनुसरण करते हैं और गुण अलंकार तथा रीति के मार्ग वक्रोक्ति के होते हैं।

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

श्लोक का तात्पर्य यही है कि ध्वनि, रस और अनुमान इन तीनों की व्याख्या एक औचित्य से और गुण और अलंकार तथा रीति की व्याख्या एक वक्रोक्ति से हो जाती है। वक्रोक्ति रूप संपति होने के कारण औचित्य में अन्तर्भुक्त होती है। इस प्रकार सबसे अधिक व्यापक तत्व काव्य के क्षेत्र में यदि कोई कहा जा सकता है तो वह औचित्य ही है। डाक्टर राघवन ने इसे निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा समझाया है। इससे औचित्य का काव्य में कितना महत्त्व है—यह स्पष्ट होता है।
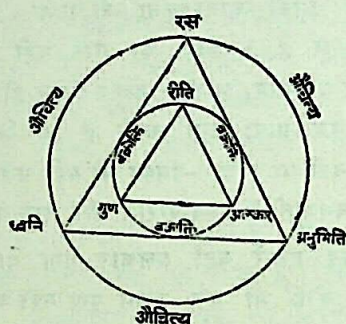
इस प्रकार औचित्य की काव्यगत व्यापकता असंदिग्ध है। पर यह भी कम उल्लेखनीय बात नहीं है कि क्षेमेन्द्र के परवर्ती आचार्यों ने इसे काव्य के स्वतन्त्र तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया। औचित्य का अर्थ अनौचित्य का अभाव उन्होंने समझा। क्षेमेन्द्र भी अपने सम्पूर्ण विवेचन में औचित्य को अलंकार, रस या शब्द आदि की समंजस अवस्थिति मात्र बता सके हैं। उसकी स्वतन्त्र विधायक सत्ता नहीं सिद्ध कर सके। निदान उनका विवेचन एक 'चर्चा' बनकर रह गया।

कहीं कहीं कवि का तात्पर्य समझने में आचार्य ने शीघ्रता भी की है। पृष्ठ ४९ पर अपादान कारक के औचित्य का जो प्रत्युदाहरण 'आदाय वारि' आदि पद्य दिया है उसमें मुख शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है। हाथ में से छीन लेने की अपेक्षा मुँह में से निकाल लेना अधिक क्रूर और निष्कृप होता है। यही यहाँ व्यंग्य है। इसी प्रकार पृष्ठ ४५ पर कर्मगत औचित्य के प्रत्युदाहरण में आचार्य की आश्चर्य के लिये खोज अहेतुक है। पद्य में ताप देने का कारण अग्नि का बढ़ना बताया गया है। काव्यलिंग अलंकार है।

पुस्तक का अन्त आशीर्वादगत औचित्य के वर्णन से करके आचार्य ने पाठकों को आशीर्वचन भी दे दिया और औचित्य का एक भेद भी बता दिया। यह उनकी कृपाशील आचार्यता है। प्रस्तु।

पाश्चात्यआलोचना में औचित्य विचार

औचित्य तत्वका पाश्चात्य समीक्षकों ने भीं काव्यकला के संदर्भ में विचार किया है। सबसे पूर्व यूनान में इसका प्रयोग संगीत शास्त्र के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किया गया। आगे चलकर इसका सम्बन्ध भाषण कला के साथ जुड़ा। उस समय इसका स्वरूप दार्शनिक अधिक था। व्यावहारिक रूप से इसका अनुवर्तन नहीं होता था। अरस्तू ने भाषण शास्त्र के प्रसंग में इसका विचार किया। उन्होंने इसे 'प्रोपेन' नाम से व्यवहृत किया है। अरस्तू का शिष्य थियोफ़ेस्टस हुआ। उसने औचित्य को शैली का गुण माना। इसके अनन्तर यह भाषण शास्त्र तथा काव्य शास्त्र के गुणों में प्रधान तत्व माना जाता रहा। यह स्थिति आगे तक चलती रही। कुछ समीक्षक औचित्य तत्व पर इतना बल देते थे कि शैली तथा उसके प्रकारों को औचित्य का ही रूपान्तर समझते थे। इसी आधार हर दी अनूसियस ने इस प्रसंग में कहा है कि—'लेख के जिस अंग में औचित्य नहीं होगा, वह यदि पूर्ण रूप से व्यर्थ नहीं है तो कम से कम उसका महत्व पूर्ण अंश अवश्य व्यर्थ होगा।'

इसी तत्व को सिसरो ने लैटिन में 'डैकोरम' नाम दिया है और इसकी बराबर दुहाई दी है। होरेस और क्विन्तीलिय ने भी औचित्य के सिद्धान्त को बड़ी प्रमुखता दी है। मध्यकाल में श्री एस० टौमस इसी सिद्धान्त के पक्षपाती रहे हैं। वे सौन्दर्य को 'शुद्ध वाह्य औचित्य' कहते थे। दांते ने इस सिद्धान्त को बड़ी गम्भीरता के साथ स्वीकार किया था। यूरोप में जब पुनर्जागरण काल आया तो इसका प्रभाव काफी बढ़ गया। क्लासिकल युग में तो इसी का बोलबाला रहा, विशेषतः फ्रांस में। इंगलैण्ड के पुटेनहम् सिडनी और जौन्सन ने इसी सिद्धान्त का प्रचार किया। आगे चलकर ड्राइडन ने लेखनकला को विचारों तथा शब्दों का औचित्य माना था। यही बात अठारहवीं शताब्दी में जौन्सन के द्वारा अधिक स्पष्ट होकर व्यक्त हुई। रोमाण्टिक मार्ग के लेखकों ने भी रूढ़ि पर बल न देकर प्रकृति को महत्व दिया और दूसरी व्याख्या के साथ औचित्यवाद को कला में स्वीकारा। इस प्रकार यूरोप की कला समीक्षा में औचित्य की मान्यता बहुत काल तक तथा भिन्न-भिन्न रूपों में वर्तमान रही है। अब कुछ विशदता के साथ एक एक का विचार किया जाय।

अरस्तू—सबसे पूर्व अरस्तू का इस विषय में क्या विचार है—
यह दिखाने का प्रयास करते हैं। इन्होंने कला के विवेचन में दो ग्रन्थ
लिखे हैं। पोइटिक्स[1] और रिटोरिक। पहले में काव्य कला और दूसरे
में भाषण कला का उपपादन है। दोनों में ही औचित्य को मान्यता
प्रदान की है। पोइटिक्स में घटनौचित्य, रूपकौचित्य, विशेषणौचित्य
तथा विषयौचित्य चार प्रकार के औचित्य भेदों का वर्णन किया है।
इनमें घटनौचित्य नाटक की कथावस्तु से सम्बन्धित है। इसका दुहरा
अर्थ है। नाटक की घटना वस्तु जगत से सम्बद्ध होनी चाहिये। वही
घटना उचित है, दूसरी अनुचित। अर्थात् अरस्तू के अनुसार घटना
सत्य न हो तो संभव अवश्य हो। यह एक प्रकार का घटनौचित्य है।
दूसरे प्रासंगिक घटना मुख्य या आधिकारिक घटना के अनुकूल होनी
चाहिये। इस प्रकार घटनौचित्य के दो भेद उन्होंने स्वीकार किये हैं।

रूपकौचित्य का अर्थ यह है कि गद्य को प्रभावशाली तथा
सुन्दर बनाने के लिये रूपक का प्रयोग किया जाता हैं। इसके प्रयोग
में इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है कि रूपक उचित हो। वर्ण्य
वस्तु का उत्कर्ष दिखाने में उत्कृष्ट गुणों से युक्त विशेषण तथा उसे हीन
न दिखाने के लिये हीन गुणों से युक्त विशेषण प्रयुक्त करने चाहिये।
रूपक में उपमान और उपमेय का अभेद रहता है। इसमें यह देखना
चाहिये कि उपमान उपमेय की समान कोटि, समान जाति तथा समान
धर्म का हो। अन्यथा रूपक अनुचित हो जायगा। उषा को 'गुलाबी
अँगुली वाली' कहना उचित है, बैंगनी अंगुलो वाली कहना अनुचित।

विशेषणौचित्य में यह देखा जाता है कि प्रकरण में जो अर्थ हो
उसकी पुष्टि करना विशेषण का का काम है। इसलिये इस कार्य के
लिये उपयुक्त विशेषण का प्रयोग करना चाहिये। यही विशेषणौचित्य
है। परशुराम की निन्दा के प्रसंग में उसे 'मातृ हन्ता' तथा प्रशंसा के
प्रसंग में 'पितृ ऋण का शोधक' कहना उचित होगा।

विषयौचित्य का सम्बन्ध भावोचित भाषा से है। भाषा भाव-
व्यंजक होनी चाहिये। भाव यदि उदात्त हैं तो भाषा क्षुद्र, दुर्बल न
हो। इसी प्रकार भाव यदि साधारण हैं तो भाषा में ओज या
गांभीर्य अधिक नहीं होना चाहिये। भाषण करते समय अथवा गद्य

---

१ – इसका काव्य शास्त्र शीर्षक से हिन्दी अनुवाद श्री महेन्द्र चतुर्वेदी ने किया है। पुस्तक डा० नगेन्द्र की भूमिका के साथ भारती मण्डल इलाहाबाद से छपी है।

या पद्य की रचना करते समय इस प्रकार के विषयौचित्य पर ध्यान न रखने वाले व्यक्ति की हँसी होती है ।

रिटोरिक में भी अरस्तू ने औचित्य (Propriety) का विशद वर्णन किया है । यह यथार्थ में भाषौचित्य है । वक्ता का उद्देश्य होता है श्रोता को अपने वश में लाकर अपने विचारों के अनुकूल बनाना । इसके लिये उसे रसानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए । अनादर प्रकट करने में क्रोध की भाषा, किसी की लघुता व्यक्त करने में हीनता की भाषा एवं प्रशंसा करने में महत्व-व्यंजक भाषा का प्रयोग करना भाषा की रसानुकूलता है । भाव और भाषा में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिये । यह भाषौचित्य है । भाषौचित्य वक्ता को विश्वसनीय और उक्ति को सत्य सिद्ध करता है । इसके अभाव में भाषण का सम्बन्ध कानों से भले ही हो, हृदय से नहीं होता ।

इस प्रकार पाश्चात्य आलोचना के भरत मुनि अरस्तू ने पाँच प्रकार के औचित्य भेदों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है ।

लांगिनस—इसके अनन्तर तीसरी शताब्दी के आलोचक लांगिनस आते है । उनका ग्रन्थ 'औन दी सबलाइम'[1] पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की मौलिक रचना समझी जाती है । उसमें ग्रन्थकार ने अलंकारौचित्य तथा शब्दौचित्य दो प्रकार के औचित्यों का उल्लेख किया है । वे काव्य में भव्यता (Sublimity) के पक्षपाती हैं । उसकी पुष्टि अलंकारों द्वारा होती है । अलंकार शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं तथा काव्य में भव्यता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं । दूसरी ओर भव्यता अलंकार के चमत्कार की पुष्टि करती है । इस प्रकार दोनों में परस्पर का उपकार्योपकारक भाव रहता है । पर यह बात तभी हो पाती है जब कि अलंकार का प्रयोग उचित हो । इस औचित्य का अर्थ है कि वह भाव के साथ-साथ ही जन्मा हो । भाव के साधारण होने पर विशेष प्रयत्न द्वारा कवि चमत्कार लाने के लिये अलंकार योजना बाद में करे—यह न होना चाहिये । आनन्द-

---

१—ग्रीक नाम 'पेरिइप्सुस' । इसका हिन्दी रूपांतर 'काव्य में उदात्त तत्व' नाम से डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन ने किया है । प्रकाशक राजपाल एंड संस—दिल्ली ।

वर्धन ने जो पृथक्-यत्न-निर्वर्त्य तथा अपृथग्-यत्न-निर्वर्त्य दो भेद अलंकार प्रयोगों के माने हैं उनमें से दूसरा उचित है पहला अनुचित है।

शब्दौचित्य को और भी स्पष्टता के साथ उन्होंने दिखाया है। काव्यकला में शब्द की बड़ी महिमा है। उचित तथा शोभन पदों का प्रयोग श्रोताओं के हृदय पर आकर्षण तथा आश्वासन की छाप डालता है। उनमें जीवनी शक्ति होती है। इसके बिना काव्य मृतक सा लगता है। 'सुन्दर तथा उचित शब्द अर्थ का वास्तविक आलोक हैं'। शब्द का फिर औचित्य क्या वस्तु है? इसके उत्तर में उन्होंने विषयानुकूल शब्द प्रयोग ही बताया है। भव्य तथा महिमामण्डित शब्दों का प्रयोग इसी प्रकार के विषयों के वर्णन में करना चाहिए। इसके विपरीत करने से शब्द प्रयोग उपहसनीय होगा। इससे स्पष्ट है कि लांगिनस काव्य में शब्दौचित्य की महिमा को ठीक-ठीक समझते थे।

हॉरेस—इनका ग्रन्थ 'आर्स पोइटिका'[1] है। इसमें औचित्य की मान्यता और महत्व अनेकत्र दिखाये गये हैं। कवियों के लिये उसके तीन उपदेश हैं।

१—ग्रीक आदर्शों का अनुकरण करना।

२—पात्र के स्वरूप की रक्षा करना।

३—काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखना।

काव्य या नाटक की कथा दो प्रकार की हो सकती है। इतिहास-प्रसिद्ध या कविकल्पित। इनमें पहले प्रकार की कथा पर यदि काव्य लिखा जाय तो उसमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके पात्रों का स्वभाव इतिहास परम्परा में जैसा है, काव्य में वैसा ही चित्रित किया जाय। परम्परा का अतिक्रमण न हो। कथा यदि कविकल्पित है तो कवि ने पात्रों की अवतारणा जिन जिन स्वाभावों के साथ की है उनका अन्त तक पालन करना चाहिये। यह नहीं होना चाहिये कि जो पात्र पहले उद्धत स्वभाव का दिखाया गया है उसी को फिर नम्र, शिष्ट अंकित किया जाय। इससे औचित्य की हानि होती है।

यह तो रहा चरित्र चित्रण के विषय में। अभिनय के विषय में भी उसने औचित्य की रेखायें खींची हैं। इसमें दो बातों का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। एक तो अभिनेय भाव के अनुरूप ही

१—इसका हिन्दी रूपान्तर काव्यकला नाम से हो गया है।

चेष्टा करनी चाहिये। दर्शकों में यदि उल्लास, आनन्द आदि की भावना जगानी हो तो अभिनेता इन भावों की उत्तेजिका भाषा ही न बोले, उसका मुख भी प्रसन्न और हास्यमय हो। इसके अतिरिक्त नाटक की वे ही घटनायें अभिनेय होती हैं जो रसानुकूल और उचित हों। नीरस, विरस अथवा अनुचित घटनाओं की, जैसे मृत्यु, युद्ध, दाह संस्कार, मैथुन आदि की केवल सूचना देनी चाहिये। सूच्य का अभिनय अनुचित है। यूरीपाइडीस के दुःखान्त नाटक 'मिडिया' में मीडिया स्त्री पात्र ने परिस्थिति वश अपने पुत्रों का वध कर डाला था। यह घटना नाटक में सूच्य है अभिनेय नहीं। परशुराम का मातृवध, भीम द्वारा दुःशासन के रक्त से द्रौपदी का केशसिंचन आदि घटनायें ऐसी ही हैं। दशरूपक के अनुसार भी अभिनेय वस्तु के दृश्य, श्रव्य तथा सूच्य तीन विभाग हैं। इसमें औचित्य का सिद्धान्त ही कार्य करता है।

हौरेस ने छन्दों के औचित्य का भी विधान किया है। जिस प्रकार का विषय हो उसी के अनुकूल छन्द का चुनाव कवि को करना चाहिए। ग्रीक साहित्य में भावों के आधार पर काव्यों के भेद किये गये हैं, जैसे करुण काव्य (Elegy) व्यंग्य काव्य (Satire) दुःखान्त नाटक (Tragedy) तथा सुखान्त नाटक (Comedy) कहलाते हैं। हौरेस का कथन है कि इन काव्यों के लिये छन्द नियत हैं। उन्हीं का आश्रयण कवि को करना चाहिये। यह भावानुसारी छन्द प्रयोग है। भारतीय आचार्यों में क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत तिलक' में भावानुसारी छन्दयोजना का विचार किया है। संस्कृत में कालिदास और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने भी भावानुसारी छन्दों का प्रयोग किया है।

यह समीक्षा पद्धति ग्रीक साहित्य के प्रभाव काल में ही रही हो, ऐसी बात नहीं है। उसके बहुत बाद में १८ वीं शताब्दी में भी महाकवि पोप ने औचित्य पर बड़ा बल दिया। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म' में भाव के अनुसार वर्णों का प्रयोग करने पर बड़ा आग्रह किया है। उनके अनुसार वर्ण अर्थ की प्रतिध्वनि होना चाहिए। मलयानिल के चलने का काव्य में चित्रण हो तो शब्द भी सरसाते, मन्दगति से बहते से होने चाहियें। इसके विपरीत प्रचण्ड झंझावत के कारण यदि समुद्र की भयंकर लहरों का वर्णन करना है तो शब्द भी ओजस्वी, कठोर तथा सुश्लिष्ट होने चहियें। संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिकूलवर्णता दोष में इसी तत्व को समझाया है। क्षेमेन्द्र के अनुसार यह वर्णों का औचित्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य कला के क्षेत्र में औचित्य की मान्यता भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों ने समान रूप से की थी। इससे उक्त तत्व की काव्यकला में व्यापकता, और उपादेयता का पता चलता है। यह काव्य का ऐसा मूल तत्व है कि सबकी दृष्टि इस पर पड़ी है। इसका कारण है। काव्य की समीक्षा करते समय जिस का भी ध्यान जीवन पर जायगा, जो भी यह विचारेगा कि जीवन का काव्य के साथ अभेद्य सम्बन्ध है तो वह इस साधारण नियम की अवहेलना नहीं कर सकता। औचित्य और कुछ नहीं, काव्य के साथ जीवन के सम्बन्धों का सूचक शब्द है। इसे कोई शास्त्रीय ढ़ंग से माने या न माने, इसकी भावना को सर्वथा भुलाया नहीं जा सकता। जिन लोगों ने औचित्य का नामत: निर्देश नहीं किया है उन्होंने काव्य में जो गुण–दोष विचार किया है वह औचित्य का हीं विचार है। भारत तथा यूनान के आदि समीक्षक भरत एवं अरस्तू की दृष्टि पहले अवसर में ही इस पर पड़ी।

इतना अन्तर अवश्य है कि पाश्चात्य समीक्षकों ने जो औचित्य का विचार किया है वह अपूर्ण तथा वाह्य है। काव्य के समस्त अङ्ग प्रत्यंगों में इसके दर्शन करने की क्षमता उनमें नहीं मिलती। क्षेमेन्द्र तथा आनन्द वर्धन में यह अन्तर्गामिनी दृष्टि विद्यमान है। आनन्द वर्धन का इस विषय का उल्लेख प्रासंगिक है। मुख्य विषय है ध्वनि। अत। औचित्य का विस्तार वहाँ नहीं मिलता। फिर भी जितना उन्होंने लिखा है वह गम्भीर है और उससे पता चलता है कि वे इसकी गम्भीरता और व्यापकता अच्छी तरह अनुभव करते थे।

क्षेमेन्द्र ने इन्हीं से प्रेरणा ली। उन्होंने औचित्य की व्यापकता तथा अनिवार्यता बड़ी व्यवस्था और सफाई के साथ दिखाई है। दूसरे सिद्धान्तों के विषय में उनका विचार बड़ा स्पष्ट है। वे इस दलदल में नहीं फँसे कि पहले सब मतों के खण्डन पर ही अपने औचित्य का भवन बनाते। वे तो केवल इतना भर दिखाना चाहते हैं कि काव्य में रस, अलंकार जो भी रह सकते हैं रहें। वे सब उसकी शोभा बढ़ावें या उसे स्वरूप प्रदान करें। पर औचित्य के बिना वे सब निरर्थक हैं, कृतकार्य नहीं। अत: काव्य की समीक्षा करते समय इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसीलिये उन्होंने अलंकार, रस आदि सब में औचित्य की आवश्यकता दिखाई है।

महाकवि क्षेमेन्द्र

की

औचित्य विचार चर्चा

मङ्गलाचरण

(कारिका) कृतारिवंचने दृष्टि र्येनाञ्जनमलीमसा ।
अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे ॥१॥

कृत्वापि काव्यालंकारां क्षेमेन्द्रः कविकर्णिकाम् ।
तत्कलङ्कं विवेकं च विधाय विबुधप्रियम् ॥२॥
औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥३॥

प्रयोजन

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥४॥

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥

जिन्होंने शत्रु को ठगने में अपनी दृष्टि को काजल से मैली बना लिया था (मोहनी रूप में) उन परम औचित्यकारी भगवान् विष्णु को प्रणाम है।

क्षेमेन्द्र 'कविकारिणका' (?) नाम की रचना में काव्य के अलंकारों का वर्णन कर तथा विद्वानों के हर्ष के लिये काव्य के दोषों एवं विवेक का भी विवेचन कर काव्यानुभूति में चमत्कार के हेतु और रस के जीवित औचित्य तत्व का अब विचार करता है।

यदि काव्य में ढूंढने पर भी प्राण स्थानीय औचित्य के दर्शन न हों तो उसके अलंकार एवं गुणों की मिथ्या गणना निरर्थक है। अलंकार तो अलंकार हैं और गुण भी गुण ही हैं। रस-सिद्ध काव्य का स्थायी प्राणतत्व तो औचित्य है।

(वृत्ति) परस्परोपकाररुचिरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य उपमोत्प्रेक्षा-दयो ये प्रचुरालंकाराः ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलंकारा एव, बाह्यशोभाहेतुत्वात् । येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद् गुणा एव, आहार्यत्वात् । औचित्यं तु अग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरम् अविनश्वरं जीवितं काव्यस्य । तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् । रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः ।

उक्तार्थस्यैव विशेषमाह –

(का०) उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥६॥

(व०) अलंकृतिरुचित-स्थान-विन्यासादलंकर्तुं क्षमा भवति, अन्यथा त्वलंकृतिव्यपदेशमेव न लभते । तद्वदौचित्यादपरिच्युता गुणा गुणतामासादयन्ति, अन्यथा पुनरगुणा एव । यदाह –

काव्य एक दूसरे का उपकार करने से रुचिर बने शब्दों और अर्थों का समुच्चय रूप है । उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि जो प्रचुर अलंकार रहते हैं वे कटक कुण्डल, केयूर, हार आदि के समान बाह्य शोभा के हेतु केवल अलंकार अर्थात् शोभावर्धक होते हैं । इसी प्रकार कुछ लक्षणचतुर लोगों ने काव्य के गुणों की रस के प्रसंग में गणना की है पर वे भी अस्थिर होने से श्रुत, सत्य, शील आदि मानवीय गुणों की भांति गुण ही हैं । औचित्य तो, जैसा कि इसका आगे लक्षण किया जायगा, काव्य का स्थिर और अविनश्वर (जो नष्ट नहीं होता) जीवित है । इसके विना काव्य निर्जीव है, भले ही वह गुण अलंकारों से युक्त हो । शृंगारादि रसों से भरपूर काव्य का औचित्य वैसे ही जीवित है जैसे रसायनों द्वारा परिपुष्ट व्यक्ति के लिये सेवनीय रसों की मात्रा का उचित होना ।

इसी बात को विशेष रूप में यों कहा जा सकता है कि अलंकार तभी अलकार होते हैं जब उनका विन्यास उचित स्थान पर हो । गुण भी यदि औचित्य से च्युत नहीं हैं तभी गुण होते हैं ।

अलंकार तभी शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब उनका विन्यास उचित स्थान पर हो । इसके अभाव में उनकी 'अलंकार' संज्ञा ही नहीं बनती । इसी प्रकार औचित्य से न गिरे हुए ही गुण गुणता प्राप्त करते हैं, नहीं तो वे अगुण ही हैं । जैसे किसी ने कहा है कि –

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा ।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥

किं तदौचित्यमित्याह—

लक्षण—

(का०) उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥७॥

(वृ०) यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते । तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति । अधुना सकलकाव्यशरीरजीवितभूतस्य औचित्यस्य प्राधान्येनोपलभ्यां स्थितिं दर्शयितुमाह –

(का०) पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥८॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥९॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि ।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥१०॥

'कण्ठ में मेखला, कटि में चंचल हार, हाथों में नूपुर, और पैरों में केयूर पहनने से, तथा प्रणाम करते हुये पर पराक्रम दिखाने और शत्रु पर करुणा करने से कौन व्यक्ति उपहसनीय नहीं हो जाते ? औचित्य के बिना न अलंकार शोभा देते हैं न गुण । वह औचित्य क्या है ? बताते हैं—

जो जिसके अनुरूप है, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं। और उचित का जो भाव है उसे औचित्य कहते हैं।

जो जिसके अनुरूप हो वह उचित कहा जाता है, उसी के भाव को औचित्य कहते हैं । अब काव्य के समस्त शरीर में जीवित की भांति विद्यमान औचित्य की प्रधान रूप से स्थिति कहाँ कहाँ होती है —यह बताते है ।

(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्धार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिङ्ग, (१०) वचन, (११) विशेषण,

(वृ०) एतेषु पदप्रभृतिषु स्थानेषु मर्मस्विव काव्यस्य सकलशरीर-व्यापि जीवितमौचित्यं स्फुटत्वेन स्फुरदवभासते । तेषूदाहरणानि क्रमेण दर्शयितुमाह ।

१. पद में औचित्य

(का०) तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ॥११॥

(वृ०) एकमेवोचितं पदं तिलकायमानं बिभ्राणा सूक्तिः समुचित-परभागशोभातिशयेन रुचिरतामावहति । यथा परिमलस्य—

'मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले
नाथास्मिन्निति बन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ॥'

---

(१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्व, (१९) सत्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वचन, (२८) तथा अन्य काव्याङ्गों में औचित्य जीवित रूप से व्याप्त रहता है ।

काव्य का जीवित औचित्य है तो उसके समस्त शरीर में व्याप्त पर उसकी स्पष्ट स्फुरणा पद आदि स्थानों में होती है जैसे प्राण की मर्म स्थानों में ।

सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभा कारक होता है जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी का तथा श्यामा के मस्तक पर चंदन का तिलक ।

तिलक की भांति केवल एक उचित पद से युक्त सूक्ति शेष भाग की शोभा अत्यधिक बढ़ जाने से रुचिरता प्राप्त कर लेती है । जैसे परिमल कवि के इस पद्य में : —

'हे देव, युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुओं के कुल डूब गए'—इस प्रकार की प्रशंसा बहुशः बन्दियों से सुनकर भोली गुर्जर-नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है ।

अत्र मुग्धापदेनार्थौचित्य चमत्कारकारिणा सूक्तिः शरदिन्दु-वदनेव श्यामतिलकेन श्यामेव शुभ्रविशेषकेण विभूषिता सकलकविकुल-ललामभूतां विच्छित्तिमातनोति। न तु यथा धर्मकीर्तेः:—

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता।

अत्र 'तन्व्या' इति पदं केवलं शब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं न कांचिदर्थौचित्यचमत्कारकणिकामाविष्करोति । 'सुन्दर्याः' इत्यत्र पदमनुरूपं स्यात्। अन्यानि वा निरतिशय रूपलावण्यव्यञ्जकानि । तन्वीपदं तु विरह-विधुर-रमणी जने प्रयुक्तमर्थौचित्यशोभां जनयंति । यथा श्रीहर्षस्य—

यहाँ 'मुग्धा' शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है और गौराङ्गी के मुख पर श्याम तथा श्यामा के मुख पर गौर तिलक की भाँति एक विच्छित्ति, जो सकल कविकुल के लिए श्रेष्ठ है, उससे उत्पन्न होती है। नीचे लिए धर्मकीर्ति के पद्य में यह नहीं है ।

सौन्दर्य रूपी धन के व्यय का कुछ विचार नहीं किया; महान् क्लेश स्वीकारा; स्वच्छन्द और सुख से रहने वाले प्राणी के लिये चिन्ता का ज्वर उत्पन्न कर दिया । यह बेचारी भी योग्य प्रेमी के अभाव में दुःखी है । विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था ?

यहाँ 'तन्वी' शब्द केवल अनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुआ है । किसी प्रकार के अर्थौचित्य के थोड़े से भी चमत्कार को प्रकट नहीं करता । 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग अनुरूप हो सकता था अथवा अत्यधिक रूप या लावण्य के व्यंजक अन्य पद प्रयुक्त हो सकते थे। तन्वी शब्द तो विरहकृश स्त्रियों के लिए प्रयुक्त हो तो उचित अर्थ का द्योतक होकर शोभा-जनक होगा । जैसे श्री हर्ष के इस पद्य में—

'परिम्लानं पीनस्तन-जघन-सङ्गादुभयतस्--
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्गयाः संतापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

अत्र सागरिकाया विरहावस्थासूचकम् 'कृशाङ्गयाः' इति पदं परममौचित्यं पुष्णाति । वाक्यगतमौचित्यं दर्शयितुमाह—

२. वाक्यगत औचित्य यथा

(का०) औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम्
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम् ॥१२॥

(वृ०) औचित्यरचितं वाक्यं काव्यविवेकविचक्षणानामभिमततमम् । यथा मम विनयवल्ल्याम् –

देवो दयावान्विजयो जितात्मा यमौ मनः संयममाननीयौ ।
इति ब्रुवाणः स्वभुजं प्रमार्ष्टि यः कीचकाकालिककालदण्डम्

'कमल के पत्तों की यह शय्या दोनों ओर पीनस्तनों तथा जघन के सम्पर्क से मुरझा गई है; शरीर के मध्य भाग का मिलन न होने से बीच में हरी रह गई है। ढीली भुज लताओं को इधर-उधर फैंकने से जहाँ तहाँ चिन्ह बन गये हैं। कमलिनी के पत्तों की शय्या कृशांगी के संताप की सूचना देती है।

यहाँ 'कृशांगी' शब्द सागरिका की विरहावस्था का सूचक है अतः परम औचित्य की पुष्टि करता है।

त्याग से उन्नत बने ऐश्वर्य एवं शील से उज्वल बने शास्त्रज्ञान की भांति औचित्य के साथ रचा गया वाक्य सज्जनों को सदा प्रिय लगता है।

जो लोग काव्य के विवेक में निपुण हैं उन्हें औचित्य से रचा गया वाक्य ही सबसे अधिक अभीष्ट लगता है। जैसे मेरी 'विनय वल्ली' के इस पद्य में :–

'देव युधिष्ठिर दयालु हैं, अर्जुन जितेन्द्रिय है; नकुल सहदेव अपने संयम के लिए आदरणीय हैं—यह कहता हुआ भीम कीचक का असमय में ही

धीरः स किर्मीरजटासुरारिः कुवेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा ।
दृष्टो हिडिम्बादयितः कुरूणां पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः ॥

अत्र भीमस्य भीमचरितोचितकीचकाकालिककालदण्डहिडिम्बादयितादिभिः पदैः उन्निद्ररौद्ररसस्वरूपानुरूपो वाक्यार्थः सजीव इव अवभासते । यथा राजशेखरस्य—

'सम्बन्धी पुरुभूभुजां मनसिज-व्यापार दीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमा-परिचितस्तारावधू-वल्लभः ।
सद्योमार्जित दाक्षिणात्यतरुणीन्दन्तावदातद्युति—
श्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमित श्चण्डीश-चूडामणिः ॥

अत्रापि चन्द्रमसः शृंगारान्तरङ्ग रनङ्गोद्दीपनैः पदैर्निर्वर्तितो वाक्यार्थः सदर्थौचित्यसामर्थ्येन अत्यर्थमभ्यर्थनीयताम् प्राप्तः न तु यथा स्यैव—

विनाश करने वाले अपने भुज दण्ड पर हाथ फेरने लगा। वह किर्मीर राक्षस की जटाओं का विध्वंसक, कुबर के शौर्य को भी शान्ति का उपदेश देने वाला, हिडम्बा का प्रिय भीम आज कौरवों की अन्तिम रेखा (दुर्योधन) गिनने के लिए यमराज जैसा दिखाई पड़ा ।

यहाँ पर वाक्यार्थ भीम के लिये दिए गए उसके भयानक चरित के ही उपयुक्त 'कीचक के अकाल कालदण्ड' हिडम्बादयित' आदि पदों से उभरे हुए रौद्र रस के स्वरूप के अनुरूप होकर सजीव जैसा लगता है । अथवा जैसे राजशेखर के इस पद्य में—

'हे सुन्दरि, भगवान शिव की चूड़ा की मणि चन्द्रमा को इधर देखो । यह पुरवंशी राजाओं का सम्बन्धी है; मदन के व्यापारों की दीक्षा देने में गुरु है; गौराङ्गियों के वदन की उपमा के लिये प्रसिद्ध है; तारावधू का प्रिय है । इसकी द्युति दाक्षिणात्य तरुणी के हालमें ही मांजे गये दाँतों की भाँति शुभ्र है ।

यहाँ शृंगार रस के अन्तरंग भावों के द्योतक कामोद्दीपक अर्थ की सूचना देने वाले पदों से वाक्यार्थ निष्पन्न हुआ है । इसलिये औचित्य के कारण अत्यन्त प्रिय लगता है । यह तत्व नीचे लिखे इसी के पद्य में नहीं है ।

'नाले शौर्यमहोत्पलस्य विपुले सेतौ समिद्वारिधेः
शश्वत्खड्गभुजंगचन्दनतरौ क्रीडोपधाने श्रियः ।
आलाने जयकुञ्जरस्य सुदृशां कंदर्पदर्पे परं
श्री दुर्योधनदोष्णि विक्रमपरे लीनं जगन्नन्दतु ॥

अत्रातिशयपरकर्कशसोत्कर्षसुभटभुजस्तम्भस्य असमुचितेन कुवलयनालतुलाधिरोपणेन वाक्यार्थः सोपहासतयेव निवद्धः परिज्ञायते।

३ प्रबन्धार्थ का औचित्य

(का०) उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाश्यते
गुण प्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः ॥१३॥

(वृ०) अम्लानप्रतिभाप्रकर्षोत्प्रेक्षितेन सकलप्रवन्धार्थाप्यायि पीयूष-वर्षेण समुचितार्थविशेषेण महाकाव्यं स्फुरदिवं चमत्कारितामापद्यते। यथा कालिदासस्य –

'दुर्योधन की विक्रमशील भुजाओं पर आश्रित जगत प्रसन्न रहे। ये भुजायें शौर्य के कमल का नाल हैं, युद्ध के वारिधि का विपुल सेतु हैं, खड्ग रूपी भुजंग का चन्दन तरु हैं, लक्ष्मी का क्रीड़ा उपधान हैं। जयकुंजर का आलान (हाथी बांधने का खूंटा) हैं और सुन्दरियों के लिये कामदेव का अभिमान हैं।

यहां योद्धा दुर्योधन के कठोर भुजास्तम्भों का उत्कर्ष के साथ वर्णन है। पर कमल नाल से उनकी तुलना के कारण वाक्यार्थ बड़ा उपहसनीय बन गया है।

यदि कोई विशेष अर्थ उचित रूप से उपनिवद्ध हो तो उससे समस्त प्रवन्धार्थ इस प्रकार शोभित होता है जैसे गुणों के प्रभाव में भव्य बने वैभव से कोई सत्पुरुष शोभित होता है।

काव्यों में कभी-कभी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा ऐसे उचित अर्थ की कल्पना की जाती है कि वह अमृत बरसाने वाला बनकर समस्त प्रबन्धार्थ को आप्यायित कर देता है। सारा काव्यार्थ उससे व्याप्त एवं प्रभावित होता है और एक विशेष चमत्कार आभासित होने लगता है। जैसे कालिदास के मेघदूत के इस श्लोक में –

'जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चाऽमोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

अत्र अचेतनस्य चेतनाध्यारोपेण मेघस्य दौत्ययोग्यताधानाय प्रथितपुष्करावर्तकपर्जन्यवंश्यत्वममात्यप्रकृतिपुरुषत्वं च यदुपन्यस्तं तेन समस्तप्रबन्धस्याभिधानतोत्प्रेक्षितेतिवृत्तरुचिरतरस्य निरतिशयमौचित्यमुद्द्योतितम्। यथा वा भवभूतेः— इति दिक् ।

(नेपथ्ये ।)

योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा ।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः ॥

लवः –(सगर्वमिव) अहो संतापभान्यक्षराणि। भो भोः, किम् अक्षत्रिया पृथिवी यदेवमुद्धुष्यते । (विहस्य ।) आः, किं नाम स्फुरन्ति शस्त्राणि । (धनुरारोपयन् ।)

'हे मेघ, मैं जानता हूँ, तुम मेघों के प्रसिद्ध वंश पुष्कर आवर्तकमें जन्मे हो, अपनी इच्छा के अनुरूप आकार धारण करने वाले हो। प्रकृति के पुरुष और इन्द्र के प्रधान सेवक हो । इसीलिये अपनी प्रिया से वियुक्त होकर मैं तुम्हारा याचक बना हूँ। श्रेष्ठ व्यक्ति से की गई याचना असफल भी हो तो भी वह नीच व्यक्ति से की गई सफल याचना से कहीं अच्छी होती है।

यहाँ अचेतन में चेतनत्व का अध्यारोप किया गया है और मेघ को पुष्करों और आवर्तकों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न और प्रकृतिका पुरुष और इन्द्र का प्रधान सेवक बताया गया है। इससे दूतकर्म की योग्यता का उसमें संनिवेश करना उचित हो जाता है। फलस्वरूप समस्त प्रबन्धार्थ का कल्पित इतिवृत्त संगत एवं रुचिरतर बन जाता है। सब मिलाकर एक निरतिशय औचित्य की द्योतना होती है । अथवा भवभूतिकृत 'उत्तर रामचरित' के नीचे दिये गये प्रसंग में देखिये ।

(नेपथ्य में) 'यह अश्व है अथवा पताका हैं अथवा समस्त संसार के अद्वितीय वीर, रावण के कुलशत्रु राम की वीरघोषणा है ।

लव (गर्व के साथ) ओह, इन शब्दों से तो संताप होता है। अरे क्या पृथ्वी क्षत्रियहीन हो गई जो तुम इस प्रकार घोषणा कर रहे हो ? (हँसकर) अहा, शस्त्र कैसे फड़कते हैं । (धनुष तानते हुये)

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटि दंष्ट्रम्-
उद्गारिघोर-घन-घर्घर घोषमेतत् ।
ग्रास-प्रसक्तहसदन्तक-वक्त्र-यन्त्र-
जृम्भा विडम्बि विकटोदरमस्तुचापम् ॥"

अत्रार्थे रामायण कथातिक्रमेण नूतनोत्प्रेक्षिता रामतनयस्य सहज विक्रमानुसारिणी शौर्योत्कर्षभूमिः परप्रतापस्पर्शासहिष्नुता प्रबन्धस्य रसवन्धुरामौचित्यच्छायां प्रयच्छति । न तु यथा राजशेखरस्य —

'रावणः— यत्पार्वतीहठकच-ग्रहण प्रवीणे
पाणौ स्थितं पुरभिदः शरदां सहस्रम् ।
गीर्वाणसारकणनिर्मितगात्रमत्र
तन्मैथिलीक्रयधनं धनुराविरस्तु ॥

जनकः - आविरस्तु सममगर्भसंभवया सीतया ।'

'इस धनुष की प्रत्यंचा ही जीभ है। वलयाकार पैनी कोटियाँ इसकी दाढ़े हैं। घने घर्घर घोष को यह उगल रहा है। अपना ग्रास खाने में लगे तथा हँसते हुये यमराज के मुख यन्त्र की जंमाई को भी अब यह अपने विकट उदर से हीन बना देने वाला बने।

यहाँ भवभूति ने रामायण की कथा का अतिक्रमण कर राम के पुत्र लव के सहज विक्रम के अनुकूल शौर्य के उत्कर्ष की आधार भूमि के रूप में दूसरे के प्रताप की असहिष्णुता कल्पित की है। वह प्रबन्ध में फैले हुये वीर रस के अनुकूल बनकर औचित्य की छाया प्रदान करती है। राजशेखर के नीचे लिखे पद्य में यह तत्व नहीं है।

रावण—'जो धनुष पार्वती के कचों को हठ पूर्वक ग्रहण करने में लगे शिवजी के हाथों में हजारों वर्ष रहा है, जिसका शरीर देवों के सार कणों से बना है और जो मैथिली को खरीदने के लिये धन जैसा है वह अब तन जाय।

जनक—इसके साथ ही अगर्भसम्भवा सीता का भी प्रतिदान हो ?

अत्र 'आविरस्तु समं सीतया' इति जनकराजेन यदुच्यते तेनास्य पिशिताशनाय तनयाप्रतिपादनमभिमतमिवोपलक्ष्यते। न चैतद्विद्मः। कथं भक्ष्यभूता कुसुमकोमलाङ्गी पुरुषादाय प्रतिपाद्यते। इत्यनौचित्येन प्रसिद्धेन वृत्तवैपरीत्यं परं हृदयविसंवादमादधाति। यथा वा कालिदासस्य—

'ऊरुमूलनखमार्गपङ्क्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत्॥'

अत्र अम्बिका-संभोग-वर्णने पामरनारी-समुचित-निर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरूमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद् गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति। गुणौचित्यं दर्शयितुमाह—

४. गुण में औचित्य—

(का०) प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगावसरोदितः॥१४॥

यहाँ सीता के प्रतिदान की बात जो रावण के प्रसंग से जनक ने कही है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्यात् राक्षस को सीता का प्रतिदान करना उन्हें अभीष्ट है। यह समझ में नहीं आता कि कोमलांगी सीता मानवभक्षी राक्षस जाति के रावण को कैसे दी जा सकती है। वह तो राक्षसों का भक्ष्य थी। इस प्रकार यह अनौचित्य चरित्र को विपरीत बनाता है और भावुक हृदय में बड़ी अरुचि उत्पन्न करता है। कालिदास के नीचे लिखे पद्य में भी औचित्य नहीं है: -

उस समय शिवजी के नेत्र पार्वती के उरुमूल में बनी नख चिह्नों की पंक्ति में लुभा गए। फिर उन्होंने प्रियतमा को अपने अस्तव्यस्त हुए वस्त्रों को ठीक करने से रोक दिया।

यहाँ अम्बिका के संभोग का वर्णन है; पर पार्वती की जंघाओं में नख चिह्नों की पंक्ति बताना पामर नारियों जैसा है और उस पर त्रिजगद् गुरु त्रिलोचन शिव का मोहित होना दिखाना परम अनुचित है। इससे यह प्रसंग अनौचित्य की पुष्टि करता है।

प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप भव्य और उत्तम गुण का काव्य में संनिवेश संयोग के अवसर पर उदित हुये चन्द्रमा के समान अमन्द आनन्द प्रदान करता है।

(वृ०) प्रस्तुतस्यार्थस्यौचित्येनौजः प्रसादमाधुर्यं सौकुमार्यादिलक्षणो गुणः काव्ये भव्यः सौभाग्यवत्तामवाप्तः सहृदयानन्दसंदोहमिन्दुरिव स्यन्दति। यथा भट्टनारायणस्य—

'महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक—
　　प्रचण्डघन गर्जित प्रतिरवानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकंदरः
　　कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥'

अत्रौजस्विनः भटमुकुटमणेरश्वत्थाम्नः स्फूर्जदूर्जितप्रतापानुरूपं वाक्यमोजसा काव्यगुणोनोदग्रतामवाप्त सहस्रगुणमिव विक्रमौचित्य-गौरवमावहति। यथा वा भट्टबाणस्य—

'हारो जलार्द्रं वसनं नलिनीदलानि
　　प्रालेय-शीकर-मुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
　　निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥'

प्रस्तुत अर्थ के उचित ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों का प्रयोग काव्य में सुभग तथा भव्य होता है। वह चन्द्रमा के समान सहृदयों को आनन्द संदोह प्रदान करता है। जैसे भट्ट नारायण कृत वेणीसंहार नाटक के निम्नलिखित पद्य में:-

'महाप्रलय के वायु से संक्षुब्ध हुए पुष्कर और आवर्तक मेघों के गर्जन के समान भयावह, सुनने में आतंककारी और आकाश पृथ्वी के अन्तराल को भर देने वाला यह अभूतपूर्व शब्द आज समरोदधि से कैसे उठा ?

यहाँ ओजस्वी श्रेष्ठ योद्धा अश्वत्थामा के उर्जस्वित प्रताप का वर्णन है। उसके अनुरूप ही ओजगुण भरे वाक्यों का प्रयोग है। इससे पराक्रम का औचित्य और गौरव सहस्र गुण अधिक बढ़ जाते हैं। वाणभट्ट के लिखे पद्य में भी यह विद्यमान है:—

'हार, गीले वस्त्र, कमलिनी के पत्ते, ओस बरसाती हुई चन्द्रमा की किरणें और चन्दन के सरस आलेप जिसके इंधन बनते हैं वह कामाग्नि किस प्रकार बुझ सकेगी ?

अत्र विप्रलम्भभरभग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना माधुर्यसौकुमार्यादिगुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेव प्रियंवदत्वेन हृदयानन्ददायिनीं दयिततमतामातनोति । न तु यथा चन्द्रकस्य—

'युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं नियच्छति जयं च पराजयं च ।
एषैव मे रणगतस्य सदा प्रतिज्ञा
पश्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम् ।।'

अत्र क्षत्रवृत्तिरिवौजसा काव्यगुणेन अपृष्टा सुभटोक्तिरुचिताऽपि तेजोजीवितविरहिता दुर्गतगृहदीपशिखेव मन्दायमाना न विद्योतते । यथा वा राजशेखरस्य—

एतस्याः स्मरसंज्वरः करतलस्पर्शैः परीक्ष्यो न यः
स्निग्धेनापि जनेन दाहभयतः प्रस्थंपचः पाथसाम् ।

यहाँ कादम्बरी की विरह व्यथा का वर्णन है। वियोग के भार से उसका धैर्य टूट चुका है। ऐसे भावों के वर्णन के लिए माधुर्य, सुकुमारता आदि गुणों का प्रयोग किया गया है। इससे प्रसंग हृदय को ऐसा आनन्ददायक बन गया है जैसे पूर्णेन्दुवदना सुन्दरी मधुर भाषण से अत्यधिक प्रिय हो जाती है। महाकवि चन्द्रक के इस पद्य में यह तत्व नहीं है।—

'युद्धों में भाग्य अस्थिर होता है । अतः उसके विषय में मैं क्या प्रण करूं? जय और पराजय तो दैव देता है। पर युद्धस्थल में आकर मैं यह प्रतिज्ञा अवश्य करता हूँ कि शत्रु मेरे घोड़ों की जंघाएँ नहीं देख पाएगें।'

यह किसी योद्धा की उक्ति है। इसे क्षात्रवृत्ति के उचित ओज गुण से युक्त होना चाहिए था, पर उसका यहाँ स्पर्श भी नहीं है। यद्यपि इसका अर्थ उचित है; पर उचित गुणों के अभाव में तेज और जीवन से वंचित होकर ऐसी मन्द पड़ गई है जैसे दरिद्र घर की तेजोविहीन दीपशिखा । राजशेखर के निम्नलिखित पद्यार्थ में भी यह गुण नहीं है :—

इसके कामज्वर को स्नेही जन भी जल जाने के भय से हाथ से छूकर नहीं देखते। जल तो इस पर उबलने लगता है। चन्दनादि औषधियों का प्रयोग

निर्वीर्यीकृतचन्दनौषधविधौ तस्मिंस्तड़त्कारिणो
लाजस्फोटमयी स्फुटन्ति मणयः सर्वेऽपि हारस्रजाम् ॥

अत्र विरहविधुररमणीमनोभवावस्थानुरूपं माधुर्यमुत्सृज्य तडत्कारिणोलाजस्फोटं स्फूटन्तीत्योजः स्फुर्जितोर्जितस्वभावाधिवासिता सूक्तिःलावण्यपेशलतनुर्ललितललनेव परुषभाषिणी झटित्यनौचित्यं चेतसि संचारयति। अलङ्कारौचित्यं दर्शयितुम् आह—

५—अलंकारों में औचित्य—

(का०) अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥

(वृ०) प्रस्तुतार्थस्यौचित्येनोपमोत्प्रेक्षारूपकादिनालंकारेण सूक्तिश्च कास्ति कामिनीवोच्चकुचचुम्बिना रुचिरमुक्ताकलापेन। यथा श्रीहर्षस्य—

इस पर निरर्थक हो जाता है। यहां तक है कि हार और मालाओं की मणियां वक्षस्थल से लगकर खीलों की भांति चटचटा कर फूट जाती हैं।

यहाँ वर्ण्य है विरह विधुर रमणी की पीड़ा दशा। उसके अनुरूप माधुर्य गुण को त्याग कर (तडत्कारिणो लाजस्फोटं स्फुटन्ती) 'चटचटा कर खील की भांति फूट जाती हैं।' आदि वाक्यों में ओज की स्फूर्जना दिखाई गई है। इससे सूक्ति चित्त में इसी प्रकार अनौचित्य का संचार करती है जिस प्रकार कटु वचन बोलने वाली कोमलांगी सुन्दरी।

प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलंकार का प्रयोग हो तो इस औचित्य से काव्य की सूक्ति इस तरह शोभित होती है जैसे पीन स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।

प्रस्तुत अर्थ के उचित ही यदि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार प्रयुक्त हों तो उससे काव्योक्ति उन्नत कुचों पर लटके हुये मुक्ताहार से कामिनी की भांति अत्यन्त शोभायमान होती है। जैसे श्री हर्ष के निम्नलिखित पद्यार्थ में—

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥

अत्र वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेनोपमा शृङ्गारावसरसरसचारुतरतामौचित्येन कामपि चेतश्चमत्कारिणीमाविष्करोति । न तु यथा चन्दकस्य—

'खगोत्क्षिप्तै रन्त्रैस्तरुशिरसि दोलेव रचिता
शिवा तृप्ताहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता।
तृषार्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो
बिलान्वेषी सर्पो हतगजकराग्रं प्रविशति ॥

अत्रानुचितस्थानस्थितायाः पुरुषपिशिततृप्तसुप्तायाः शिवायाः सुरतकेलिक्लान्तकान्तया विच्छायेवोपमा परं वैपरीत्यं प्रकाशयति। यथा वा मालवरुद्रस्य—

'अपना उत्सव देखने के लिये उत्सुक हो कर वत्सराज कामदेव की भांति इधर ही आ रहे हैं। लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है। अतः प्रेमी वे प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करते हुये साक्षात् कामदेव के समान लगते हैं।'

यहां वत्सराज की कामदेव से उपमा श्रृगार रस के प्रसंग में बड़ी चारुता उत्पन्न करती है। यह औचित्य चमत्कार का कारण बनता है। महाकवि चन्दक के नीचे लिखी पद्य में यह औचित्य नहीं है।

'पक्षियों ने आंतों को वृक्षों की टहनियों पर फेंक फेंक कर झूला सी बना दी है। शृगाली भर पेट मांस खा कर रतिखिन्न रमणी की भांति सो रही है। प्यासा शृगाल रुधिर में सनी तलवार को बार बार चाट रहा है। और यह सांप बिल की खोज में मरे हुये हाथी की सूंड़ के अग्रभाग में प्रविष्ट हो रहा है।'

यहां पुरुषों का मांस खाकर सोई हुई शृगाली की समता सुरत केलि में क्लान्त रमणी से की गई है। यह अनुचित एवं कान्तिहीन है। इससे बड़ा वैपरीत्य प्रकट होता है। मालवरुद्र के पद्यार्थ में वही बात है।

'अभिनववधूरोषस्वादः करीषतनूनपाद्।
असरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवे-
र्विरहिवनितावक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशाकरः॥'

अत्र कोमल-कामिनी-कोपेन करीषकृशानोः सादृश्यं शीतसमय-स्वादुतया हृदयसंवादसुन्दरमप्यनुचितत्वेन सहसैव चेतसः संकोचमिवादधाति। यथा ना राजशेखरस्य—

'चिताचक्रं चन्द्रः कुसुमधनुषो दग्धवपुषः
कलङ्कस्तत्रत्यः स्पृशति मलिनाङ्गारकलनाम्।
यदेतत्स द्योतिर्दर दलितकर्पूर धवलं
मरुद्भिर्भस्मैतत्प्रसरति विकीर्णं दिशि दिशि॥'

अत्राप्यानन्दिसुधावस्यन्दसुन्दरस्येन्दोश्चिताचक्रत्वमनुचिततया कर्णकटुकमातङ्कमिवातनोति। योऽर्थस्तु हृदयसंवादी स यद्यनौचित्य-स्पर्शलेशरहितस्तदधिकतरामलंकारशोभां पुष्णाति। यथा कार्पटिकस्य-

---

'शरद के दिनों में उपलों की आग नई बहू के कोप जैसी प्रिय लगती है। बर्फीली हवा कुबड़े व्यक्ति के 'आलिंगन के समान अप्रिय लगती है। सूर्य की कान्ति निर्धन व्यक्ति की आज्ञा के समान मंद पड़ गई है। चन्द्रमा विरहिणी स्त्री के मुख की उपमा धारण करता है।'

यहाँ कोमल कामिनी के कोप से उपलों की अग्नि की समता दी गई है। यद्यपि शीतकाल में प्रिय लगने के कारण वह अनुभूति में ठीक है पर रूप में पहले पहल अनुचित लगती है। चित्त में इससे सहसा संकोच का अनुभव होता है। (कहाँ नवोढा का कुपित मुख और कहाँ दहकता हुआ अंगार? यह समता अनुचित है।) अथवा राजशेखर का निम्नलिखित पद्य देखिए—

'चन्द्रमा जले हुए कामदेव के चिताचक्र जैसा, और उसका कलंक मलिन बुझे अंगारों जैसा लगता है। यह जो चमकीला पिसे कपूर जैसा सफेद पदार्थ (चांदनी) हैं, वह मानो चिता की भस्म ही वायु में इधर-उधर उड़ रही हैं।'

इसमें भी चन्द्रमा की समता चिताचक्र से दी गई है। यह अनुचित है। चन्द्रमा आनन्दसुधा का बरसाने वाला है। चिताचक्र कानों को कटु है और चित्त में आतंक उत्पन्न करता है। अतः उत्तम पदार्थ में अलंकारगत औचित्य

'शीतेनोध्दृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः
शान्ताग्निनं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वापि विमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता,
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी ॥'

अत्रानौचित्यस्पर्शपरिहारेण केवलं हृदयसंवादसौन्दर्यमेव स्वादुतामादधाति। रसौचित्यं दर्शयितुमाह।

६—रसगत औचित्य—

(का०) कुर्वन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः ॥१६॥

(वृ०) औचित्येन भ्राजिष्णुः शृंगारादिलक्षणो रसः सकलजन-हृदयव्यापी वसन्त इवाशोकतरुमङ्कुरितं मनः करोति। यथा श्री हर्षस्य—

नहीं रहा। जो अर्थ हृदय को प्रिय हो और अनौचित्य का उसमें लेश भी न रहे तो वह अलंकार की शोभा को अधिकाधिक पुष्ट करता है। जैसे कवि कार्पटिक के नीचे पदार्थ में—

'मैं उड़द की फली की तरह जाड़े में इठ गया था। चिन्ता सागर में गोते खाने लगा। अग्नि ठन्डी हो गई थी। उसे फूंकते फूंकते होठ खुले ही रहते थे। भूख के मारे कण्ठ भी क्षीण था। निद्रा विमानित प्रियतमा की भाँति छोड़कर दूर चली गई और रात्रि सत्पात्र को दान की गई पृथ्वी के समान क्षीण ही नहीं हो पा रही थी।'

यहाँ प्रतिपाद्य अर्थ हृदय संवादी है और अनौचित्य का स्पर्श भी नहीं है। अतः सौन्दर्य अधिक आस्वाद्य बन गया है।

औचित्य से सुन्दर बना रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। मधुमास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है, उसी प्रकार यह भी भावुक के हृदय को अंकुरित कर देता है।

औचित्य से दीप्त हुआ शृंगारादि रस सब लोगों के हृदय में व्याप्त होकर वसन्त जैसे अशोक को, उसी भाँति अन्तःकरण को अंकुरित कर देता है।

श्री हर्ष का नीचे लिखा पद्यार्थ उदाहरण है।

शृंगार रस का औचित्य—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥'

अत्रेर्ष्याविप्रलम्भरूपस्य शृंगाररसस्य वासवदत्तायाम् प्रवक्ष्यमाणस्य नवमालिकालतायाः ललितवनितातुल्यतया विरहावस्थारोपणेन नितरामौचित्यरुचिरचमत्कारकारिणी दीप्तिरुपपादिता। यथा वा कालिदासस्य—

'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥'

अत्र पार्वत्यां परमेश्वरस्याभिलाषशृंगारे वक्ष्यमाणे प्रथममुद्दीपन विभावभूतस्य वसन्तस्य वर्णनायां कामुकाध्यारोपेण वनस्थली

'इस उद्यानलता की कलिकाएँ बढ़कर ऊपर उठ आई हैं। इसकी कान्ति पीली पड़ गई है। जँभाई लेकर दीर्घ श्वासों से मानो क्षण भर के लिये यह अपनी थकान को प्रकट कर रही है। इसे आज मैं मदन पीड़ित नारी की तरह देखूँगा तो देवी वासवदत्ता का मुख कोपारुण हो जायगा।

इसमें वासवदत्ता के ईर्षा विप्रलंभ भाव की कल्पना की गई है। नवीन मालती लता को ललित वनिता के तुल्य कल्पित कर उसमें विरह दशा का आरोप किया गया है। इस प्रकार उपमा द्वारा एक रुचिर औचित्य की सृष्टि हुई है और उससे चमत्कार जनक दीप्ति का जन्म हो गया। कालिदास के निम्नलिखित पद्य में भी यही बात है—

'ढाक के अत्यधिक लाल लाल फूल पूरे विकसित नहीं हुए थे। इसलिए बाल इन्दु की भाँति टेढ़े दिखाई देते थे। ऐसा लगता था कि वनस्थलियों का जो वसंत से समागम हुआ है उसमें उन्हें ताजे नखक्षत लग गए हैं।

यह कुमार सम्भव का प्रसंग है। प्रस्तुत पद्यार्थ के बाद भगवान शंकर का पार्वती के प्रति अभिलाषा शृंगार वर्णित होता है। उससे पूर्व यहाँ वसन्त

ललना नाम् कुटिललोहितपलाश कलिकाभिः नवसंगमयोग्य नखक्षताण्युत्प्रेक्षितानि परमामौचित्यचारुतां प्रतिपादयन्ति । न तु यथास्यैव ।

'वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥

अत्र केवलकर्णिकार कुसुमवर्णनमात्रेण विधातृवाच्यतागर्भेणैव प्रस्तुत शृंगारानुपयोगिना तदुद्दीपनविभावोचितं न किंचिदभिहितम् ! हास्य रसे यथा मम लावण्यवतीनाम्नि काव्ये—

हास्यरस गत औचित्य—

'सीधुस्पर्शभयान्न चुम्बसि मुखं किं नासिकां गूहसे
रे रे श्रोत्रियतां तनोषि विषमां मन्दोऽसि वेश्यां विना ।
इत्युक्त्वा मदघूर्णमाननयना वासन्तिका मालती
लोनस्यात्रिवसोः करोति बकुलस्येवासवासेचनम् ॥'

कामुक के और वनस्थली, कामिनियों के रूप में कल्पित हैं । ढाक की लाल टेढ़ी कलिकाओं की नवसंगम के नखक्षत के रूप में उत्प्रेक्षा है । प्रस्तुत प्रसंग दूर तक शृंगार रस का है । उसी के अनुरूप उपमानगत वस्तुसमूह शृंगारिक हैं । अतः यहाँ औचित्य की उत्कृष्ट चारुता विद्यमान है । उन्हीं के इस पद्य में औचित्य नहीं है ।

'कन्नेर का फूल वर्ण में तो उत्तम था पर गन्ध शून्य था इसलिये चित्त को खेद प्रदान करता था । गुणों के संयोजनविधान में विश्व के सृजनहार की प्रवृत्ति प्रायः उलटी रहती है ।'

यहाँ विधाता की निंदा के साथ कन्ने के फूल का वर्णन है । उसका प्रस्तुत शृंगार रस में कोई उपयोग नहीं दिखाया गया । इसलिये उद्दीपन विभाव के उचित कुछ भी नहीं कहा गया । फलतः रस गत औचित्य का अभाव है । हास्य रस के औचित्य का उदाहरण जैसे मेरे लावण्यवती नामक महाकाव्य में ।

'क्या मदिरा के स्पर्श के भय से मेरा मुख नहीं चूम रहे ? अपनी नाक क्यों ढकते हो ? अरे यह श्रोत्रियपना क्यों बखेरते हो । वेश्या के बिना तुम कुछ नहीं । मद से घूर्णित नेत्रों वाली मालती ने ऐसा कह कर सिकुड़ते हुए अत्रिवसु श्रोत्रिय पर आसव छिड़क दिया जैसे, मौलिश्री वृक्ष पर छिड़कते हैं ।'

अत्र श्रोत्रियस्यात्रिवसोरपवित्रसीधुस्पर्शशङ्कासंकोचनिलीनस्य शुष्कबकुलवृक्षस्येव सरसतापादनाय वेशविलासिन्या यदासवासेचनं तदङ्गभूतशृंगाररसाभासस्पर्शेन हास्यरसस्य वरासवस्येव सहकार-रसवेधेन सचमत्कार मौचित्यमाचिनोति यथा वा मम लावण्यवत्यामेव

मार्गे केतकसूचिभिन्नचरणा सीत्कारिणी केरली,
रम्यं रम्यमहो पुनः कुरु विटेनेत्यर्थिता सस्मिता ।
कान्ता दन्तचतुष्क बिम्बितशशिज्योत्स्नापटेन क्षणं
धूर्तालोकनलज्जितेव तनुते मन्ये मुखाच्छादनम् ॥'

अत्रापि हास्यरसस्य कुटिलविटनर्मोक्तिवचनौचित्येन शृंगाररसा-भासाधिवासितस्य सचमत्कारः परः परिपोषः समुन्मिषति । न तु यथा श्यामलस्य—

इस में मुख्य रस हास्य है । गौण है शृंगाराभास । इसके स्पर्श से मुख्य रस में ऐसा चमत्कारी औचित्य आगया है जैसा किसी श्रेष्ठ आसव में आम का रस मिला देने पर होता है । इस औचित्य का व्यंजक व्यापार यहाँ है । वह है अपवित्र आसव के स्पर्श की शंका एवं संकोच से सिकुड़ते हुए अत्रिवसु श्रोत्रिय पर सूखे मौलिश्री वृक्ष की भाँति सरसता लाने के लिये वेष विलासिनी का आसव छिड़कना । इस प्रकार हास्यरसगत औचित्य यहाँ वर्तमान हैं । ग्रन्थकार के उसी ग्रन्थ का दूसरा उदाहरण—

'मार्ग में केरल देश की रमणी पैर में केतकी की सुई छिद जाने से 'सी सी' करने लगी । पर उसके साथी विट ने प्रार्थना की कि यह चेष्टा अत्यन्त रम्य है । ऐसा ही फिर करो । इस पर वह मुसकरा दी । क्षण भर के लिये उसके चार दाँतों पर चाँदनी का जो प्रतिबिम्ब पड़ा तो ऐसा लगा मानों वह कान्ताधूर्त के देखने से लज्जित होकर मुख पर श्वेत वस्त्र का घूँघट करती है ।

यहाँ पर भी हास्य रस में कुटिल विट की नर्मोक्तियों के औचित्य से शृंगाराभास का पुट लग गया है । इससे चमत्कार जनक परिपोष मुख्य रस में आगया है । श्यामल के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं है ।

'चुम्बनसक्तः सोऽस्या दशनं च्युतमूलमात्मनोवद्नात् ।
जिह्वामूलप्राप्तं खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ॥'

अत्र हास्यरसस्य बीभत्सरसाधिवासितस्य लशुनलिप्तस्येव कुसुमशेखरस्यातिजुगुप्सितत्वादनीप्सितस्य परमानौचित्येन चमत्कारस्तिरोहितः । वृद्धापरिचुम्बने जिह्वामूलप्राप्तस्य च्युतदशनस्य कण्ठलोठिनः ष्ठीवनेन वीभत्सस्यैव प्रधान्यम्, न तु हास्यरसस्य ।

करुणों यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

करुणगत औचित्य —

'प्रत्यग्रोपनताभिमन्युनिधने हा वत्स हा पुत्र के-
त्यश्मद्रावि सुभद्रया प्रलपितं पार्थस्य यत्तत्पुरः ।
येतोद्ग्राष्यनिमुक्तशष्यकवलैः सेनातुरंगैरपि
न्यञ्चत्पार्श्वगतैककर्णकुहरैर्निःस्पन्दमन्दं स्थितम् ॥'

'नायक उसके मुख चुम्बन में लगा ही था कि नायिका का दांत जड़ से उखड़ कर नायक के मुख में गले तक पहुंच गया । वह खकार कर उसे जैसे तैसे थूक सका ।

यहाँ हास्य बीभत्स रस से संयुक्त हुआ है । पर वह लहसुन में सने फूलों के गुच्छे की भाँति अप्रिय हो गया है और इस अनौचित्य से काव्य का चमत्कार तिरोहित हो गया है । वृद्ध स्त्री के चुम्बन में और गले तक आए हुए उखड़े दांत के थूकने में वीभत्स भाव की ही प्रधानता हो जाती है हास्य की नहीं ।

करुण रस ग्रन्थकार की अपनी मुनिगत मीमांसा में —

'अभिमन्यु का वध उसी समय हुआ था । इस पर सुभद्रा ने 'हे वत्स ! हे पुत्र !!' आदि आदि चिल्लाकर अर्जुन के समक्ष ऐसा विलाप किया कि पत्थर भी पिघल उठे । इसे सुन कर सेना के घोड़ों ने रो-रोकर घास खाना त्याग दिया और कानों के कुहर को एक ओर नीचा करके वे निश्चल खड़े रहे ।

अत्र प्रत्यग्रोपनतप्रियतरतनयवियोगोपजनितशोकाख्यस्थायिभावोचितं दृषदामपि हृदयद्रावणं सुभद्रया यत्प्रलपितं तदर्जुन चेतसि प्रतिफलितं न केवलमुद्दीप्ततामुपगतं यावत्तिरश्चां तुरंगमाणामप्यन्तः संक्रान्तमुद्बाष्पविमुक्तशष्पकवलनिःस्पन्दस्थितादिभिरनुभावैरुदीर्णं तरुणकरुण रस प्रतिपत्तिं किमप्यादधाति ॥ न तु यथा परिमलस्य

'हा शृंङ्गारतरङ्गिणी कुलगिरे ! हा राजचूडामणे !
हा सौजन्य सुधानिधान ! हहहा वैदग्ध्यदुग्धोदधे ।
हा देवोज्जयिनीभुजंग ! युवति प्रत्यक्ष कंदर्प ! हा
हा सद्बान्धव ! हा कलामृतकर ! क्वासि प्रतीक्षस्व नः ॥

अत्र हाहेति हतमहीपति विरहे तद्गुणामंन्त्रणपदैर्वक्तृवक्त्रगत एव शोकः केवलमुपलक्ष्यते । न तु विभावानुभावव्यभिचारी संयोगेन शोकाख्यस्य स्थायिभावस्योचितं रसीकरणं किंचिन्निष्पन्नम् ॥

रौद्रे यथा भट्टनारायणस्य—

इस पद्यार्थ में कुछ ही समय पहले के प्रिय पुत्र अभिमन्यु के वध से उत्पन्न शोक के स्थायीभाव का वर्णन है। वह पत्थरों तक के हृदय को पिघला देने वाले सुभद्रा के विलाप से प्रतिफलित होकर अर्जुन के हृदय में उद्दीप्त हुआ है। अतः भावोचित व्यापारों की योजना हुई है। इतना ही नहीं। घोड़े जैसे पशुओं के हृदय में भी वह संक्रान्त होकर रोना, ग्रास कवलों को छोड़ देना, निश्चल खड़े रहना आदि अनुभावों द्वारा प्रस्तुत भाव की अनुभूति को और अधिक तीक्ष्ण और गम्भीर बनाता है। परिमल कवि के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह नहीं है।

'हा शृंगार तरंगिणी के कुलगिरि, हा राजचूड़ामणि, हे सौजन्य के सुधानिधान, हा वैदग्ध्य दुग्ध के उदधि हा उज्जयिनी के भुजंग, युवतियों के प्रत्यक्ष कन्दर्प, सद्बान्धव, कला के चन्द्र, देव, तुम कहाँ हो ? हमारी प्रतीक्षा करो, हम भी आती हैं।

यहाँ किसी राजा की मृत्यु पर उसके गुणों का स्मरण करते हुए शोक की अभिव्यक्ति की गई है। वह वक्ता के मुख में ही विद्यमान है। विभाव अनुभाव, संचारी भावों द्वारा उसे रस पदवी तक नहीं पहुँचाया गया जो कि उचित था।

रौद्ररस में औचित्य जैसे भट्टनारायण के निम्नलिखित पद्यार्थ में—

'यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपं
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥'

अत्र क्रूरक्रोधस्थायिभावात्मकस्योन्निद्ररौद्ररसस्योचिता शिशुस्थविरगर्भगतविशसन निस्त्रिंश कर्माध्यवसायाधिरोहणसंवादिनीं द्रोणवधविधुरामर्ष विष विषमव्यथाकश्मलशिथिलमश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति ॥ न तु यथा श्री प्रवरसेनस्य—

दणुइन्दरुहिरलग्गे जस्स फुरन्तेणहप्पहाविछड्डे
गुप्पन्ती विवलाआ गलिअत्थवथणंसुए महासुरलच्छी
'दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य स्फुरति नख प्रभासमूहे
व्याकुलीभवन्ती विपलायिता गलितस्तनांशुका महासुर लक्ष्मीः ॥'

'पाण्डवों की सेना में अपनी भुजाओं पर गर्व करने वाला जो जो शस्त्रधारी है; पांचालवंश में जो कोई भी शिशु युवा अथवा गर्भस्थ है; जिसने भी उस निंदित कर्म को देखा था और मेरे युद्ध में आजाने पर जो भी विपरीत आचरण करता है, मैं उन सब का क्रोधान्ध काल हूं, भले ही वह स्वयं मृत्यु ही हो।

यहां रौद्ररस का स्थायीभाव क्रोध अश्वत्थामा में दिखाया गया है। उसके उचित ही शिशु युवा, और गर्भस्थ तक की क्रूर हत्या कर डालने के उद्यम तक ले जाने वाली अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा द्रोण के बध से उत्पन्न हुए क्रोध एवं वेदना से पीड़ित उसके मन की स्थिरता सूचित करती है। प्रवरसेन के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं है।

'हिरण्यकशिपु के रुधिर में सने नृसिंह भगवान के नखों की प्रभा देदीप्यमान हुई तो राक्षस श्री उससे भयविह्वल होकर भाग गई और इसमें अपने वक्षस्थल से नीचे गिरते हुए वस्त्र को भी सँभाल न सकी।'

अत्र क्रोधव्यञ्जकपदविरहिततया 'दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य नरसिंहस्य स्फुरति नखप्रभासमूहे व्याकुलीभवन्ती विपलायिता गलितस्तनांशुका महासुरलक्ष्मीः' इति वर्णनया रुधिरलग्न इति बीभत्सरससंस्पर्शो व्याकुलीभवन्ती दैत्यश्रीः पलायितेति भयानकरससंकरेण प्रकृतोचित प्रधानभूतस्य रौद्ररसस्य क्वचिन्मुखमपि न दृश्यते। वीरे यथा मम नीतिलतायाम्—

वीररसगत औचित्य—

'शौर्याराधितभर्गभार्गवमुनेः शस्त्रग्रहोन्मार्गिणः
संक्षेपेण निवार्य संक्षयमयीं क्षत्रोचितां तीक्ष्णताम्
आकर्णायतकृष्टचाप कुटिल भ्रूभङ्ग संसर्गिणा
येनान्यायनिषेधिना शममयी ब्राह्मी प्रदिष्टा स्थितिः॥

अत्र 'सोऽयं रामः' इति रावणाग्रे शुकसारणाभ्यां दूरान्निर्दिश्यमानस्य रामस्य निःसंरम्भ गम्भीरावष्टम्भ सभाव्यमानप्रभावोचितायां शस्त्र संग्रहो न्मार्गगामिनो भार्गवस्य मुनेः स्वजाति समुचितस्थित्युपदेशे सति प्रभविष्णुतायां चापरूपभङ्ग्या भ्रूभङ्गः प्रदर्शितः, न तु

यह पद्यार्थ रौद्ररस का है। पर उसके स्थायीभाव क्रोध की व्यञ्जना करने वाले व्यापारों का इसमें अभाव है। वास्तव में यहाँ रुधिरादि के वर्णन से थोड़ा सा तो बीभत्स हैं और व्याकुल होकर राक्षस श्री के भागने में भयानक रस का उसके साथ संकर है। प्रकृत रस जो रौद्र था उसका कहीं मुख भी नहीं दिखाई देता। औचित्य उसी की पुष्टि में था।

जैसे ग्रन्थकार की स्वरचित 'नीतिलता' के निम्नलिखित पद्यार्थ में :—

'ये वही राम हैं जिन्होंने शौर्य से भर्ग की आराधना करने वाले, मर्यादा के विपरीत शस्त्र ग्रहण करने के व्यसनी परशुराम की क्षत्रियोचित संहारकारिणी तीक्ष्णता को थोड़े में ही रोक दिया था; जिन्होंने कान तक धनुष को खींच कर तथा उस पर अपने कुटिल भ्रूभंग डालकर अन्याय का निषेध किया था और भार्गव को शान्तिपूर्ण ब्राह्मी स्थिति का संकेत किया था।

इसमें तोता और मैना रावण को दूर से राम का संकेत देती हैं। उनकी क्रोधरहित गम्भीर आकृति से जैसा प्रभाव प्रतीत होता है उसी के उचित प्रताप की व्यंजना मर्यादा के विपरीत शस्त्र ग्रहण करने वाले भार्गव को ब्रह्मवृत्ति का उपदेश देने से हुई है। राम का भ्रूभंग भी चाप भंग के प्रसंग से

स्वभाविकः, वीररस्य क्रोधे विकारासंभवात् । प्रसन्नमधुरधीरा हि वीरवृत्तिः । तदुचितमत्राभिहितम् । भार्गवाभिभवेन च प्रधाननायकस्योत्कर्षः प्रतिपादितः । यथा वा राजशेखरस्य—

'स्त्रीणां मध्ये सलीलं भ्रमित गुरुगदाघातनिर्नष्ट संज्ञः
सद्यो वध्योऽभवस्त्वं पशुरिव विवशस्तेन राज्ञार्जुनेन ।
तस्य च्छेत्तापि योऽसौ सकलनृपरिपुर्जामदग्न्यो भुजानां
जित्वोच्चैः सोऽपि येन द्विज इति न हतस्तापसस्त्वेष रामः ॥

अत्र रावणकार्तवीर्यजामदग्न्योत्कर्षोत्कर्षतरसोपानपरम्पराधिरोहण क्रमेण प्रधाननायकस्य प्रतापः हरां कोटिमारोपितः ॥ न तु यथा भवभूते :—

'वृद्धास्ते न विचरणीयचारितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तंतां
युद्धं स्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।

हुआ । स्वाभाविक रूप में नहीं । वीर का क्रोध में भी विकार उचित नहीं । उसकी तो वृत्ति प्रसन्न, मधुर और धीर होती है । यहाँ उसी के उचित व्यापारों की योजना है । भार्गव के दमन द्वारा भी राम के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति की गई है । अथवा राजशेखर का नीचे लिखे पद्यार्थ देखिए :—

'हे लंकेश, घूमती हुई गदा के आघात से संज्ञाहीन होकर तुम जिस सहस्रार्जुन के वश में हो गए थे और स्त्रियों के बीच में पशु की भाँति वध्य बन गए थे, उसकी भी भुजाओं को काटने वाले समस्त क्षत्रियों के शत्रु परशुराम को जिसने जीत लिया और ब्राह्मण समझ कर मारा नहीं वही राम तापसवेश में यहाँ आ रहे हैं ।

यहाँ रावण, सहस्रार्जुन तथा परशुराम के शौर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाकर प्रधान नायक राम का प्रताप उच्चतम व्यंजित किया है । भवभूति के इस पद्यार्थ में वैसा औचित्य नहीं है ।

'बड़े लोगों के चरित्र पर टीका टिप्पणी करना ठीक नहीं । युद्ध होने दो । ताड़का स्त्री का दमन करने पर भी उनका यश अखण्डित बना रहा और वे

यानि त्रीणि कुतोमुखाण्यपि पदान्यासन्खरायोजने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

अत्राप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षं सहिष्णो-वीररसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवित सर्वस्व भूतस्य प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमन खररणापसरणान्यरण संसक्तवालिव्यापादना-दिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्य-नुचितमेतत् । भयानके यथा श्री हर्षस्यः ।

भयानक रस में औचित्य—

'कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृंखलादामकर्षं-
न्क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः
दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपते र्मन्दिरं मन्दुर याः ॥

महान ही रहे । वे खर राक्षस के साथ युद्ध करने में जो तीन कदम पीछे हटे थे, अथवा बालि के वध में जिस कौशल का उन्होंने प्रयोग किया था, वह सब लोग जानते हैं ।

यह पद्य 'उत्तर रामचरित' का है । गौण पात्र लव के वीरभाव का उद्दीपन दूसरों के प्रताप की असहिष्णुता के द्वारा यहाँ किया गया है । पर उससे प्रधान नायक राम के वीर भाव का उसके स्त्रीवध, खर के युद्ध से अपसरण, सुग्रीव के साथ युद्ध करते हुए बालि का छल से वध करना आदि लोकापवादों का स्मरण कराकर कवि ने विनाश कर दिया है अतः यह वस्तु योजना अनुचित है ।

भयानक रस का औचित्य जैसे श्री हर्ष के इस पद्य में :—

'यह बन्दर अस्तबल से भागकर राजगृह में घुस रहा है । अधकटी सोने की सांकल इसके गले में लटक कर घिसट रही है । द्वारों को उलांघता है तो हेला से उछलते समय चलायमान चरणों में किंकिणियों का समूह बज उठता है । अंगनाएँ आतंकित हो गई हैं । सईस लोग घबड़ाए हुए उसके पीछे दौड़ रहे हैं ।

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा—
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥'

अत्राङ्गनानां निशितदशननखशिखोल्लेखातङ्कदानेन प्रचुरतर-वानराभिसरणभयसंभ्रान्तान्तःपुरिक-बृद्धवामनकिरात कुब्जादीनां पुरुषगणनाविहीनतया धैर्यविरहकातराणामुचित चेष्टानुभाववर्णनया भयानकरससंवादिरुचिरौचित्यमाचकास्ति ॥ न तु यथा राजपुत्रमुक्तापीडस्य —

'नीवारप्रसराग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धितः शैशवे
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पयः ।
तं दृष्ट्वा मदमन्थरालिवलयव्यालोलगल्लं (ण्डं) गजं
सानन्दं सभयं च पश्यति मुहुर्दूरे स्थितस्तापसः ॥

'हिजड़े लोग लज्जा न करते हुए भाग गए क्योंकि उनकी तो मनुष्यों में गणना ही न थी । यह वामन कंचुकियों के कंचुकों के अन्दर घुस रहे हैं । किरात लोग, जैसा कि उनका नाम है, दूर किनारों पर जा खड़े हुए हैं और कुबड़ियाँ धीरे से नीचे-नीचे जा रही हैं कि कोई देख न ले ।

इसमें भयानक रस है । उसके अनुरूप ही बन्दरों के तीखे दाँत और नखों की खसोटन से स्त्रियों का आतंकित होना- अन्तःपुर के बद्ध कंचुकी, वामन, किरात, कुब्जा आदि का पुरुषों में गिनती न होने से थोड़े भय से भी भ्रान्त एवं भयभीत होकर भाग पड़ना आदि ऐसी चेष्टाओं का वर्णन हुआ है जो प्रकृत भाव के अनुरूप होने से रुचिर हैं । फलतः यहाँ औचित्य विद्यमान है । राजपुत्र मुक्तापीड़ के इस पद्यार्थ में वह औचित्य नहीं है :—

'जिसे कोमल मोथे के मूठों के कौर खिला-खिला कर बड़ा किया और शिशुकाल में जिसने होम से बचे जल को कमल के पत्तों के दोनों में भर भर कर पिया था वही हाथी जब युवा होकर मदमंथर हुआ और भौंरों का समूह उसके गण्डस्थल पर चक्कर काटने लगा तो तपस्वी दूर बैठकर उसे आनन्द और भय के साथ देखता है ।

अत्र गजस्याघातकविकृतचेष्टानुवर्णनाविरहिततया स्थायिभावस्य भयानुभाववर्जितस्त केवलं नाममात्रोदीरणे च भयानकरसोचितसंभ्रमाभावादुपचितमौचित्यं न किंचिद् उपलभ्यते ॥ बीभत्से यथा मम मुनिमतमीमांसायाम् —

'सर्वापायचयाश्रयस्य नियतं कुत्सानिकायस्य किं
कायस्यास्य विभूषणैः सुवसनैरानन्दनैश्चन्दनैः ।
अन्तर्यस्य शकृद्यकृत्कृमि कुलक्लोमांत्रमालाकुले
क्लेदिन्यन्तदिने प्रयान्ति विमुखाः कौलेयकाका अपि'

'अत्र वैराग्यवासनाच्छुरितवीभत्सरसस्य जुगुप्साख्यस्थायिभावोचितकायगतकुत्सिततरान्त्रतन्त्रादिसमुदीरणेन परा परिपुष्टिर्निःसार शरीराभिमानवैरस्यजननी प्रतिपादिता । न तु यथा चन्दकस्य ।'

यहाँ हाथी की किसी आघात कारिणी विकृत चेष्टा का उल्लेख नहीं हुआ । स्थायी भाव भय का बिना अनुभावों के केवल नाममात्र का निर्देश है । फलतः भयानक रस के उचित घबराहट का अभाव है । अतः यहाँ औचित्य की पुष्टि नहीं दीखती ।

ग्रन्थकार की अपनी मुनिमत मीमांसा के पद्य में वीभत्सगत औचित्य का यह उदाहरण देखिये।

'यह शरीर सब तरह के उपद्रवों का घर है और बुराइयों का खजाना है । इसे तरह तरह के भूषण, वस्त्र और आनन्ददायी चन्दनादि से सजाने में क्या लाभ होगा ? इसके भीतर तो विष्टा, यकृत, कीड़ों का समूह और आँतों का जाल भरा हुआ है और वह सदा मूत्रादि से गीला रहता है । अन्त में एक दिन कुत्ते और कौवे भी मुँह फेर कर इसे छोड़ जाते हैं ।

यहाँ वैराग्य भावना से उत्पन्न वीभत्स रस का वर्णन है । स्थायीभाव है जुगुप्सा । उसी के अनुरूप शरीर में विष्टा, आँत आदि का वर्णन कर उसके प्रति निरर्थक देहाभिमान का वैरस्य व्यंजित किया है । वर्ण्य सामग्री भाव के उचित ही है । चन्दक के नीचे लिखे पद्यार्थ में यह नहीं प्रतीत होता ।

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः
क्षुधाक्षामो रूक्षः पिठरककपालार्दितगलः।
व्रणैः पूतिक्लिन्नैः कृमिपरिवृतैराकृततनुः
शुनीमन्वेति श्वा तमपि मदयत्येषः मदनः॥

अत्र अशुचि चर्वण रुचे रुपचित विचिकित्स कुत्सानिकायकायस्य स्वभावजुगुप्सितयोनेः शुनकस्य क्रिमेतैर्बीभत्स विशेषणैरतिशय निबंन्धानुबद्धै रविक्रमुद्भासितम्। एतैरेव पुरुषगतंजुगुप्सा परं गौरवमावहति॥ अद्भुते यथा चन्द्रकस्य है—

अद्‌भुत गत औचित्य—

'कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्य कृष्ण क एवमाह मुसलो मिथ्याम्ब पश्याननम्।
व्यादेहीति विकासितेऽथ वदने दृष्ट्वा समस्तं जग-
न्माता यस्य जगाम विस्मयपदं पायात्स वः केशवः॥'

'यह कुत्ता कृश है, काना और लगड़ा है: कान और पूँछ भी इसके नहीं हैं। भूख से सूख कर रूखा बन गया है। किसी कंकाल के कपाल को चबाने से इसका गला भी दूख उठा है। पीव बहते और कीड़ों से किलकिलाये घावों मे सारा शरीर आवृत है। फिर भी यह कुतिया के पीछे भाग रहा है। यह कामदेव उसे भी मदोन्मत्त बनाता है।

यहाँ कुत्ते के शरीर में अनेक घृणित कुत्साओं का प्रदर्शन हुआ है। पर वह तो स्वभाव से ही घृणित योनि का है और अशुचि पदार्थों के खाने में उसकी रुचि है। फिर इस प्रकार अत्यधिक निबंन्ध के साथ वीभत्स विशेषणों का वर्णन करने से किस बात की व्यंजना हुई ? ये ही सब यदि पुरुषगत होते तो जुगुप्सा में गौरव होता।

'माँ, आज कृष्ण खेलने गया तो इसने अपने आप मिट्टी खाई थी।' 'क्या कृष्ण यह सच है ?' 'किसने बताया है ?' 'बलदेव ने।' 'माँ, बिल्कुल झूठ है।' मेरा मुँह देख लो। 'अच्छा मुँह खोल।' इस पर श्रीकृष्ण ने जब मुँह फाड़कर दिखाया तो माता उसमें समस्त जगती को देखकर हक्की-बक्की हो गई। वे केशव हम सब की रक्षा करें।

अत्र पाण्डुराङ्गकरसाक्षिलक्षित मृद्भक्षणाक्षेपोद्यतजननीभय चकित-स्यापह्नवकारिणः शिशोर्विकासितास्यान्तः समस्त जगद्दर्शनेन मातुश्च तत्प्रभावानभिज्ञतया वात्सल्य विह्वलाया विस्मयगमनेनात्युचियोऽयम द्भुतातिशयः ॥ न तु यथा मम मुनिमतमीमांसायाम् –

'समस्ताश्चर्याणां जलनिधिरपारः सवसति-
　　स्ततोऽप्याश्चर्यं यत्पिबति सकलं तं किल मुनिः ।
इदं त्वत्याश्चर्यं लघुकलशजन्मापि यदसौ
　　परिच्छेत्तुं को वा प्रभवति तवाश्चर्यसरणिम् ॥'

अत्रपारसरित्पतिप्रभावेण मुनिना तस्यैकचुलकाचमनेन मुनेश्च लघुकलशजन्मना क्रमाक्रान्तिसमारूढोऽप्यसम विस्मयमयोऽयमद्भुत-प्रसरः संसारस्यैवंविधैवाश्चर्यसरणि रपरिच्छन्ना न किंचिदेतत्कौ

इस पद्यार्थ में मटमैले रंग के हाथों के साक्ष्य से कृष्ण पर मिट्टी खाने का आक्षेप लगा है। उन्होंने भय चकित होकर अपना मुंह खोल कर जो दिखाया तो माता उसमें समस्त जगती का दर्शन कर वात्सल्य विह्वल और विस्मय चकित हो गई । वह भगवान के प्रभाव की तो अनभिज्ञ थी । अतः यहाँ अद्‌भुत रस का परिपोष उचित ही हुआ है। ग्रन्थकार की अपनी मुनिमत मीमांसा के इस पद्यार्थ में यह तत्व नहीं है।

अपार समुद्र समस्त आश्चर्यों का घर है। उससे अधिक आश्चर्य यह है कि उस सारे को एक मुनि पी गए और इस आश्चर्य का कहना ही क्या कि वे मुनि एक छोटे घड़े से उत्पन्न हुए थे। संसार तेरी, आश्चर्य मयता की माप कौन कर सकता है ।

इसमें अपार समुद्र का प्रभाव, उसको अगस्त्यमुनि का एक चुल्लू में पी जाना, मुनि का फिर एक छोटे घड़े से जन्म होना आदि घटनाओं द्वारा विलक्षण विस्मय से अद्‌भुत रस क्रमशः चढ़ता गया है। पर अन्त में 'संसार

तुकमित्यर्थान्तरन्यास सामर्थ्येन सहसैवावरोपित इव तिरोभूततामुप गतः ।। शान्ते यथा मम चतुर्वर्गसंग्रहे—

'भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद्भयं
दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं वंशे कुयोषिद्भयम् ।
माने ग्लानिभयं जये रिपुभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं नाम भवे भवेद्भयमहो वैराग्यमेवाभयम् ।।'

अत्र सकलजनाभिमतभोगसुखवित्तादीनां भयमयतया हेयतां प्रतिपाद्य वैराग्यमेव सकलभयायासशमनमुपादेयतया यदुपन्यस्तं तेन शान्तरसस्य निरर्गलमार्गावतरणमुचिततरमुपदिष्टं भवति यथा वा मम मुनिमतमीमांसायाम् —

ऐसे ही आश्चर्यों से भरा हुआ है तो उक्त घटनाएँ कोई अद्भुत नहीं सिद्ध होतीं · इस भाव का अर्थान्तरन्यास दिखाया गया है । इससे ऊपर का भाव उतर सा गया और उत्कर्ष तिरोभूत हो गया ।

ग्रन्थकार के 'चतुर्वर्ग संग्रह' के नीचे लिखे पद्यार्थ में यह विद्यमान है :—

'भोग में रोग का भय है, सुख में क्षय का, वित्त में अग्नि और राजा का, सेवा में स्वामी का, गुणों में खलों का तथा वंश में बुरी स्त्री का । इसी प्रकार मान में ग्लानि का भय है । जय में शत्रु का और शरीर में मृत्यु का । फलतः संसार में सभी भय से भरे हैं । कोई निर्भय वस्तु है तो वह वैराग्य है ।

यहाँ प्राणिमात्र के जो भोग, सुख वित्तादि हैं उन्हें भय दूषित दिखाकर हेय बताया गया है और वैराग्य को समस्त भयों का शमनकारक व्यंजित कर उपादेय दिखाया है । इससे शान्त रस के निर्भीक और स्वच्छन्द रूप का उपदेश अभिव्यंजित होता है । वर्ण्य की योजना प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है । अथवा जैसे उन्हीं की मुनिमतमीमांसा में :—

'कुसुमशयनं पाषाणो वा प्रियं भवनं वनं
प्रतनु मसृणस्पर्शं वासस्त्वगप्यथ तारवो ।
सरसमशनं कुल्माषो वा घनानि तृणानि वा
शमसुखसुधापानक्षैब्ये समं हि महात्मनाम् ॥'

अत्र सकलविकल्पतल्परहिताभेदावभासमानात्मतत्त्वविश्रान्ति जनितसर्वसाम्यसमुल्लसित शमसुखपीयूषपानोदितनित्यानन्द घूर्णमान-मानसानां प्रियाप्रियसुखदुःखादिषु महतां सदृशी प्रतिपत्तिरिति जीवन्मुक्तिसमुचितमभिहितम् ॥ न तु यथा श्रीमदुत्पलराजस्य—

'अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्टे वा कुसुमशयने वा दृशदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥'

'फूलों की सेज हो या पत्थर; भवन हो वा जंगल; हल्के चिकने वस्त्र हों अथवा पेड़ों की छाल – सभी प्रिय हैं। रसीला भोजन हो या उबले उड़द' धन हो अथवा घास, शम सुख के अमृत के पान से कृशता होने पर महात्माओं के लिए सब समान हो जाते हैं।

समस्त विकल्पों के हट जाने से अभेद बुद्धि का आभास और उससे आत्म तत्व की विश्रान्ति से उत्पन्न हुए शम के सुख का पान और उसके कारण नित्य आनन्द से परिपूर्ण मानस वाले महापुरुषों की प्रिय अप्रिय, सुख-दुःख आदि में एकसी ही प्रवृति होती है। अतः यहाँ जीवन्मुक्ति के उचित ही कहा गया है।

उत्पल राज के इस पद्यार्थ में ऐसा नहीं है।

लालसा यह है कि अहि हो या हार, बलवान शत्रु हो या मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, फूलों की शय्या हो अथवा पत्थर की शिला, तृण हो या प्रमदायें, सर्वत्र समान भावना से मेरे दिन बीतें और किसी पवित्र बन में 'शिव, शिव, शिव' का प्रलाप करता रहूँ।

अत्र जीवन्मुक्तोचितं प्रियाप्रियरागद्वेषोपशमलक्षणमोक्षक्षमं सर्वसाम्यमहिहारसुहृदरिसमदृष्टिरूपमभिदधता क्वचित्पुण्यारण्ये यदभिहितं तद्विकल्पप्रतिपादकमभेदवासनाविरुद्धमनुचितमवभासते धाराधिरूढ़सर्वसाम्यविगलितभेदाभिमानग्रन्थेर्हि सर्वत्र सर्वं शिवमयं पश्यतस्तपोवने नगरावस्करकूटे च विमलात्मलाभतृप्ततया समानदृशः क्वचित्पुण्यारण्यादि वचनमनुचितोच्चारणमेव ॥

१०५.

(का०) यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः ।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृङ्गाराद्यास्तथा मिथः ॥१७॥
तेषां परस्पराश्लेषात्कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥१८॥

यहाँ जीवन्मुक्त पुरुष के उचित ही प्रिय, अप्रिय, रागद्वेष आदि द्वन्द्वों का उपशम करने वाला मोक्षोपयोगी साम्यभाव अहि-हार' शत्रु-मित्र आदि पर समान दृष्टि द्वारा अभिहित हुआ है। पर पुण्यारण्य का जो उल्लेख है वह भेद बुद्धि का प्रतिपादक और उपर्युक्त अभेद भावना का विरोधी है। अतः अनुचित है। जब साम्यभाव धाराधिरूढ़ हो जाता है तो उससे भेदाभिमान की ग्रन्थि विगलित हो जाती है और सब वस्तुएं शिवमय प्रतीत होती है। निर्मल आत्मलाभ से तृप्त ऐसे मुमुक्ष की तपोवन और नगर के घूरे में समान दृष्टि हो जाती है। फिर पुण्यारण्य की बात कहना अनुचित है।

रस की संसृष्टि और संकर में औचित्य—

मधुर तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार शृंगार आदि रसों को आपस में एक दूसरे से मिलाने पर विलक्षण रसानुभूति होती है। उनके इस परस्पर मिलने में कवि को औचित्य की रक्षा करनी चाहिये। अनौचित्य का तनिक स्पर्श भी हो जाने से वह रस संकर किसको प्रिय होगा ?

(वृ०) रसाः कटुकमधुराम्ललवणाद्याः कुशलसूदेन वेसवारपानादिषु योजिता विचित्रास्वादतामुपयान्ति तथैव परस्परमविरुद्धाः शृंङ्गारादय इति । तेषामन्योन्यमङ्गाङ्गिभावयोजनायामौचित्यस्य जीवितसर्वस्व-भूतस्य रक्षां कुर्यात् । अनौचित्यरजसा रससंयोगः स्पृष्टो न कस्यचिद भिमत इत्यर्थः ॥

रससंकरौचित्ये शान्तशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावो यथा भगवतो महर्षेर्व्यासस्य—

'सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गिलोलं हि जीवितम् ॥'

अत्र भगवता जन्तुहिताभिनिविष्टेन मोक्षक्षमोपदेशेऽङ्गिनः शान्त-रसस्य रागिजनानिष्टत्वात्सकलजनमनः प्रह्लादने बालगुर्डाजह्वकया

चतुर रसोइया चटनी या पना आदि के बनाने में जब मीठे, चरपरे, खट्टे नुनखरे आदि रसों का चतुरता से संयोजन करता है तो वे विचित्र आस्वाद को जन्म देते हैं । इसी प्रकार अविरुद्ध शृंगार आदि रस भी मिल कर विलक्षण रसनीय बन जाते हैं । इनकी परस्पर की अंगांगि-भाव-योजना में औचित्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिये । वही उसका जीवित है । अनौचित्य की थोड़ी सी धूल भी उसमें पड़ गई तो वह विरस हो जायगा ।

शान्त और शृंगार रस के संकर में औचित्य –

शान्त और शृंगार के अंगांगिभाव में औचित्य महर्षि व्यास के निम्न लिखित पद्यार्थ में : -

'सचमुच तरुणियाँ मनोरम हैं और विभूतियाँ भी बड़ी रम्य हैं । पर जीवन तो इतना चंचल है जितना कि मदमत्त अंगना की अपांगभंगी ।

यहाँ पर प्राणिमात्र के हित का ध्यान रखने वाले भगवान व्यास मोक्षोपयोगी शान्त रस का उपदेश देना चाहते है । पर रागी जनों को वह अभीष्ट नहीं हैं । इसलिए गुड़ जिह्विका न्याय (मीठा खिलाते खिलाते बालक के

शृङ्गारेऽङ्गभावमुपनीते पर्यन्ते शान्तस्यैव लोल जीवितमित्यनित्यताप्रतिपादनपरिनिर्वाहेण परममौचित्यमुच्चैः कृतम्। बीभत्सशृङ्गारयोरङ्गाङ्गिभावो यथा मम बौद्धावदानकल्पलतायाम् —

'क्षीबस्येवाचालस्य द्रुतहृतहृदया जम्बुकी कण्ठसक्ता,
रक्ताभिव्यक्तकामा कमपि नखमुखोल्लेखमासूत्रयन्ती
आस्वाद्यास्वाद्य यूनः क्षणमधरदलं दत्तदन्तव्रणाङ्कं
लग्नानंगक्रियायामियमतिरभसोत्कर्षमाविष्क रोति ॥'

अत्र श्लेषोपमया तुल्यकक्षाधिरूढ़योरपि परस्परविरुद्धयो रथंयोबीभत्सशृङ्गाराङ्गाङ्गिभावयोजनायां जम्बुकी तरुणशवस्य क्षीबस्येव निश्चलस्थितेः सहसैव हृतहृदयपद्मा कृष्टचित्ता वा, कण्ठे लग्ना शोणिते भृशमभिव्यक्तस्पृहा रक्ताभिव्यक्तकामा वा, नखोल्लेखमासूत्रयन्ती

कान छेद दिये जाते हैं इसे गुड़ जिह्विका कहा जाता है) से उनका मन प्रसन्न रखने के लिये पहले शान्त को शृंगार का अंग बना दिया जाता है। पर अंत में जीवन को चंचल बताकर उसकी अनित्यता का प्रतिपादन भी उन्होंने कर दिया है। अंत में शान्त रस की ही श्रेष्ठता का औचित्य ऊंचा कर दिया है। वीभत्स और शृंगार के अंगागिभाव में औचित्य जैसे ग्रन्थकार की 'बौद्धावदान कल्पलता' में :—

'युवा शव नपुंसक की भांति अचल होकर पड़ा है। शृंगाली रुधिर की कामना से कामातुर सी आसक्त हो उसके गले से लगी है और नाखूनों की खरोंच की रेखाएं बना देती है। दांतों का व्रणांक दे देकर उसके अधर का बार बार आस्वादन करती है। इस प्रकार सुरत क्रिया में संलग्न सी वह उसके अंगछेदन में (अंगक्रिया) व्यस्त बनी अपने रसोत्कर्ष को व्यक्त करती है।'

यहां युद्धस्थल में युवा शव का भक्षण करती हुई शृंगाली का वर्णन है। श्लेषोपमा अलंकार द्वारा उसे कामाविष्ट युवति जैसा चित्रित किया है। शृंगार और वीभत्स दो परस्पर विरुद्ध रस समान बल होकर यहां मिले हैं। तरुण शव क्षीव की भांति निचेष्ट पड़ा हैं और मुग्ध होकर शृगाली युवती

दत्तदन्तव्रणम् अधरमास्वाद्यास्वाद्याङ्गच्छेदक्रियायामनङ्गभोगक्रियायां वा, लग्ना गात्राणाभूध्वगतं कर्षणं रतकौशलोत्कर्षं वा, प्रकाशयतीति वा, समानयोर्बीभत्सशृङ्गारयोः कामिनीपदत्यागेन केवलं जम्बुक्याः कर्तृत्वेन बीभत्सस्यैव प्राधान्ये शृङ्गारेऽङ्गतामुपगते वक्तुर्बोधिसत्वस्यान्तर्गतगाढवैराग्य वासनाधिवासितचेतसः कुत्साहंजुगुप्सया नितम्बिनीरतिविडम्बनमौचित्यरुचिरतामादधाति ॥ यद्यप्यत्र महावाक्ये शान्तस्यैव प्राधान्यं तथाप्युदाहरणश्लोक वाक्ये बीभत्सस्यैव ॥

वीरकरुणयोर्यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

गाण्डीवस्रुवमार्जनप्रणयिन. स्नातस्य वाष्पाम्बुभिः
चण्डं खाण्डवपावकादपि परं शोकानलं बिभ्रतः ।
जिष्णोर्नूतनयौवनोदयदिनच्छिन्नाभिमन्योश्चिरं
हा वत्सेति बभूव सैन्धववधारब्धाभिचारे जपः ॥'

की भाँति उसके कण्ठ से लगी है। अनुरक्त कामातुर रमणी की भाँति वह शोणित की अत्यन्त इच्छुक है। कामिनी की भाँति अपने नखों के चिन्ह शव पर बना रही है। अपने दाँतों के व्रण बनाती हुई बार बार उसके अधर का आस्वादन करती है और अंग-छेदन क्रिया में ऐसी लग्न है जैसे रति क्रिया में। अपने शरीर को बार बार ऊपर उठाती है जैसे सुरत क्रिया में। यहाँ कामिनी और शृगाली की चेष्टाएँ समान हैं। इसलिये वीभत्स और शृंगार भी समान बल हैं। पर उन चेष्टाओं कर्ता का वाक्य में शृंगाली है। अतः वीभत्स मुख्य है और शृंगार गौण। इसके वक्ता भी बोधिसत्व है जिनका प्रागाढ़ चित्त वैराग्यवासना से युक्त है। फल स्वरूप कुत्सित की जुगुप्सा दिखा कर नितंबिनी रति की विडम्बना की व्यंजना होती है। भावों के संयोजन में रुचिर औचित्य है। समस्त ग्रन्थ में तो शान्त रस का ही प्राधान्य है पर इस श्लोक वाक्य में वीभत्स की मुख्यता है।

वीर और करुण के संकरौचित्य का उदाहरण ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का यह पद्यार्थ है।

'नवोदित यौवन काल में ही अभिमन्यु का वध किया गया तो अर्जुन शोक संतप्त हो गए और जयद्रथ के वध रूपी अभिचार यज्ञ में वे लग गए। उनका गाण्डीवस्रुवा मँजने लगा। अश्रुजल में स्नान कर खाण्डव बन की अग्नि से भी अधिक दारुण शोकाग्नि को उन्होंने धारण किया। 'हा वत्स' 'हा वत्स' के मन्त्र वे जपते जाते थे।

अत्र त्रिगर्तसंग्रामगतस्य गाण्डीवधन्वनः 'शत्रुभिर्नवयौवनोदयसमयनिहततनयस्य कार्मुकस्रुवमुन्मार्जयतः प्रसरदश्रुस्नातस्य शोकाग्निमुद्वहतश्चिरं' हा पुत्रेति जयद्रथवधारब्धाभिचारे जपो बभूवेति यदुपन्यस्तं तेनारिक्षये दीक्षासमुचित व्रतवर्णनया शोकाग्नेश्चण्डत्वेन खाण्डवपदोदीरणेन वीररसस्यांगिनः सहसैवागन्तुके करुणरसे प्रज्वलिते सैन्धववधारब्धाभिचाराभिधानेन पर्यन्ते शौर्यनिर्वाहेण परममौचित्यमुज्जृम्भते ॥

शान्त श्रृंगार करुणबीभत्सानां यथा मम तत्रैव—

'तीक्ष्णान्तस्त्रीकटाक्षक्षतहृदयतया व्यक्तसंसक्तरक्ताः
क्रोधादिक्रूररोगव्रणगणगणनातीततीव्रव्यथार्ताः ।
स्नेहक्लेदार्तिलग्नैः कृमिभिरिव सुतैः स्वांगजैर्भक्ष्यमाणाः
संसारक्लेशशय्यानिपतिततनवः पश्य सीदन्ति मन्दाः ॥'

अर्जुन त्रिगर्तों के संग्राम में गया था । पीछे शत्रुओं ने यौवनोदय काल में ही अभिमन्यु का वध कर दिया । इस पर अर्जुन ने अपने अश्रुजल में स्नान कर पुत्र शोक की अग्नि को अन्तर में धारण कर तथा गाण्डीव को स्रुवा के समान मांजकर जयद्रथ के वध का अभिचार-यज्ञ प्रारम्भ किया जिसमें जप का मन्त्र था 'हा पुत्र' 'हा वत्स' आदि शब्द । इसमें शत्रु-क्षय के लिये दीक्षा के तुल्य व्रत लेने, खाण्डव पद का निर्देश करने एवं शोकाग्नि को प्रचण्ड बताने से अंगी वीररस की व्यंजना होती है । करुण रस मध्य में सहसा आ गया है । पर अन्त में जयद्रथ वध के अभिचार का उल्लेख होने से शौर्य का ही निर्वाह है । अतः भावों के बलाबल का बड़ा अच्छा औचित्य यहाँ विद्यमान है । उसी ग्रन्थ में शान्त, श्रृंगार, करुण और बीभत्स के संकरौचित्य का उदाहरण जैसे—

'देखो, मन्द पुरुषों के हृदय स्त्रियों के तीक्ष्ण कटाक्षों से क्षत एवं संसार के रागी बनकर क्रोध आदि क्रूर रोगों के असंख्य घावों की तीव्र व्यथा से वे व्यथित रहते हैं । कृमियों की भाँति अपने अंग से ही उत्पन्न हुए पुत्रादि उन्हें स्नेह के कारण चिपट कर खाए डालते हैं । सांसारिक क्लेशों की शय्या पर पड़े हुए वे अनेक कष्ट भोगते हैं ।

अत्र मुख्यस्याङ्गिनः शान्तरसस्यैवोद्दीपने कारणीभूतास्तीक्ष्णा स्त्रीकटाक्षक्षतहृदय व्यथार्तस्नेहक्लेदातिलग्नकृमितुल्य तनयादिपदोपादानेन शृङ्गारकरुणबीभत्साः शान्तमुखप्रेक्षिणः संलीनतया स्तिमितवृत्तयो भृत्या इव परमौचित्यं दर्शयन्ति रससंकरस्यानौचित्यमुद्भावयितुमाह ।) शृङ्गारशान्तयोर्यथाऽमरुकस्य— उतिदिशे।

'गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्तासि केयं त्वरा
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान्पश्यामि यावन्मुखम्
संसारे घटिकाप्रणालविगलद्धारा समे जीविते
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा संगमः'

अत्र प्रकरणवर्तिनः शृङ्गाररसस्य पश्यामि यावन्मुखमित्युत्कण्ठोत्कण्ठासमुज्जृम्भमाणस्य स्वभावविरोधिनि शान्तेऽङ्गभावमुपनीते विस्तीर्णतरानित्यतावर्णनया वैराग्येण रतेर्यरभावमापादयन्त्या प्रधानरससंबन्धेनाधिकमनौचित्यमुत्साहितम् । निःसारससाराचारुता श्रवणेन हि कठिन क्रियाक्रूरचेतसामप्युत्साहभङ्गादङ्गान्यलसी भवन्ति, किमुत कुसुमसुकुमारशृंगाररसकोमलमनसां विलासवताम् । प्रान्ते च शान्त-

---

यहाँ अंगी रस है शान्त ! उसी के उद्दीपन के रूप में स्त्रियों के कटाक्षों से हृदय क्षत होने, व्यथा पीड़ित बनने तथा स्नेह लग्न कृमियों के समान पुत्रादि के वर्णन से शृंगार, करुण, एवं वीभत्स रस, शान्त रस के मुखापेक्षी और उसी में संलीन हैं । सेवकों की भाँति सीमित वृत्ति के होकर वे परम औचित्य दर्शाते हैं । अब आगे ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं जिनमें रसगत औचित्य नहीं मिलता । शृंगार और शान्त के संकर में यह अमरुक कवि का पद्यार्थ है—

'यदि जाना निश्चित ही है तो चले जाना, शीघ्रता क्या है । दो तीन कदम चलकर खड़े हो जाइये, जब तक मैं तुम्हारा मुख देखती हूँ । यह जीवन घड़े के छेद में से बहते हुए पानी के समान है । कौन जानता है, बाद में मेरा तुम्हारा संगम हो या न हो ?

इसमें प्रकृत रस शृंगार है । 'जब तक मैं मुँह देखती हूँ ।' वाक्य की उत्कण्ठा से उसी की परिपुष्टि भी की गई है । उसका विरोधी शान्त-भाव यहाँ अंग है । पर संसार की अनित्यता के विस्तृत वर्णन से जो वैराग्य प्रतीत

परिपोषनिर्वाहेण रागवैरस्यमेव पर्यवस्यति । तदुक्तमानन्दवर्धनेन—

'विरोधी वाविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोष न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता ॥'

तदेवात्र वंपरीत्येनोपलभ्यते । परिपोषविपरीते
स्वभावविरोधिन्यपि प्रधानानुपरोध एव ॥ यथा राजशेखरस्य—

'माणं मुंचध देह वल्लहजणे दिट्ठि तरंगुत्तरं
वारुण्णं दिअहाइं पंच दह वा पीणत्थणत्थंभणं ।
इत्थ कोइलिमंजुसिंजिणमिसाद्देवस्स पंचेसुणो
दिण्णा चित्तमहूसवेण सहसा आणव्व सव्वंकसा ॥'

'मानं मुञ्चत ददत वल्लभजने दृष्टिं तरङ्गोत्तरां
तारुण्यं दिवसानि पञ्चदश वा पीनस्तनस्तम्भनम् ।
इत्थं कोकिलमञ्जुशिञ्जितमिषाद्देवस्य पञ्चेषोर्दत्ता
चैत्रमहोत्सवेन सहसाज्ञेव सर्वंकषा ॥'

होता है उससे रतिभाव तिरस्कृत हो जाता है जिससे अप्रधान रस के सम्बन्ध के कारण बड़ा अनौचित्य आ जाता है । संसार की असारता एवं अचारुता के श्रवण से कठोर चित्त लोगों का भी उत्साह भंग और अंग उदासीन हो जाते हैं । पुष्प के समान कोमल चित्त वाले विलासियों का तो फिर कहना ही क्या । अंत में शान्त रस का परिपोष दिखा कर यहाँ और भी वैरस्य उत्पन्न हो गया है । आचार्य आनन्दवर्धन ने यही कहा है : – 'कोई भाव बिरोधी हो या अविरोधी, अन्य रस के अंगी होने पर उसकी पुष्टि नहीं करनी चाहिये। इसी से अविरोध बनता है ।' इसका उल्टा उपर्युक्त पद्यार्थ में हो गया है । इसके विपरीत अंगी रस का विरोधी भाव भी यदि परिपुष्ट न हो तो प्रधान का उपरोध नहीं होता । उदाहरण के लिये राजशेखर का निम्नलिखित पद्य लीजिए :--

'मान छोड़ो । अपने प्रिय पर कटाक्ष पूर्ण दृष्टि डालो । पीन-स्तनों का स्तंभनकारी यौवन पाँच या छः दिन ही है ।' कोयल के इस मंजुल स्वर के बहाने से चैत्र महोत्सव ने कामदेव की प्रबल आज्ञा मानों दे डाली है ।

अत्र 'मानं मुञ्चत ददत वल्लभजने दृष्टिं तरंगितां। तारुण्यं दिनानि पञ्चदश वा पीनस्तनस्तम्भनमित्थं कोकिलमधुरध्वनिव्याजेन देवस्य पञ्चेषोश्चैत्र महोत्सवेनाज्ञेव सर्वंकषा दत्ता' इति वाक्ये मुख्यः शृंगाररसः प्रारम्भपर्यन्तव्याप्तिशाली कतिपयदिवसस्थायि यौवनमित्यनित्यतारूपशान्तरसबिन्दुना मध्यत्रुडितेनेव विरसतां न नीतः। विरुद्धस्य परिपोषाभावात्। विरुद्धवर्णनोदितेन ह्यनौचित्तेन स्थायीकुञ्जरः इव श्वभ्रपातितः पुनरुत्थातुं नोत्सहत इत्यलं विस्तरेण। अनया दिशा रससंकरे भेदप्रपञ्चौचित्यं विपश्चिद्भिः स्वयं विचार्यम्॥

रसौचित्यविचारानन्तरमुद्देशानुसारक्रमेण क्रमोपगतं क्रियापदौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) सगुणत्वं सुवृत्तत्वं साधुता च विराजते।
　　काव्यस्य सुजनस्येव यद्यौचित्यवती क्रिया ॥१९॥

इस काव्य में मुख्य रस शृंगार है। वही प्रारम्भ से लेकर अन्त तक व्याप्त है। पर 'यौवन पाँच छः दिन ही है।' इस वाक्य से अनित्यता रूप शान्तरस की बूँद उसके मध्य में गिर गई है। फिर भी वह नीरस नहीं बना क्यों कि विरुद्ध रस का परिपोष नहीं हुआ है। विरुद्ध भाव के वर्णन के अनौचित्य से तो गड्ढे में गिरे हाथी की भाँति प्रधान भाव फिर उठ नहीं सकता। इस प्रसंग में इतना कहना पर्याप्त है। इस प्रकार से रस के संकरस्थल में औचित्य का विचार विद्वानों को करना चाहिये।

रसौचित्य के विचार के अनन्तर उद्देशानुसारी क्रम से क्रिया पद के औचित्य को अब दिखाया जाता है।

क्रिया पद औचित्य—

सत्पुरुष की भाँति काव्य के गुण वृत्त (छन्द अथवा व्यवहार) और साधुता तभी अच्छे लगते हैं यदि उसकी क्रिया उचित हो।

(वृ०) काव्यस्य माधुर्यादिगुणवत्ता वसन्ततिलकादिसुवृत्तता परिपूर्णं लक्षणसाधुता च विराजते, यद्यौचित्ययुक्तं क्रियापदं भवति। सुजनस्येवेति तत्तुल्यत्वं स्पष्टार्थमेव ॥ क्रियापदौचित्यं यथा मम नीतिलतायाम्—

'यः प्रख्यातजवः सदा स्थितविधौ सप्ताब्धिसंध्यार्चने
दोर्दर्पेण निनाय दुन्दुभिवपुर्यः कालकंकालताम्।
यः पातालमसृङ्मयं प्रविदधे निष्पिष्य मायाविनं
सुग्रीवायस्थविभूतिलुण्ठनपटुर्वाली स किं स्मर्यते ॥'

अत्र सप्ताब्धिसंध्यार्चनप्रख्यातजवो महिषरूपदुन्दुभि दानवोन्माथीमायाविदानवनिष्पेषोद्भूतशोणितपूरितपातालतल स किं वाली स्मर्यत इति क्रियापदेन शुकसारणाभ्यां रावणस्य दुर्नयाभिनिवेशिनस्तद्विरामाय हितोपदेशेन भवान्वसनकोणनियमिततनुः कक्षायां निःक्षिप्त इत्युचितमुक्तियुक्तमुक्तं भवति ॥ न तु यथा श्रीप्रवरसेनस्य—

क्रियापद यदि औचित्यपूर्ण होता है तो काव्य के माधुर्य आदि गुण, वसन्ततिलका आदि छन्द और साधुता उसी प्रकार अच्छे लगते हैं जिस प्रकार श्रेष्ठ कर्म करने से सत्पुरुष के विनय आदि गुण, व्यवहार और साधुता (भलमनसाहत) आदि अच्छे लगते हैं। क्रिया पद के औचित्य का उदाहरण जैसे ग्रन्थकार की नीतिलता पुस्तक में—

'जो सात समुद्रों पर सन्ध्यार्चन करने के कारण अपने वेग के लिये प्रसिद्ध है, जिसने अपने बाहुदर्प से दुन्दुभि राक्षस का शरीर कंकाल बना दिया था, मायावी दानव को पीस कर जिसने पाताल को रुधिर से भर दिया था, वह सुग्रीव की अच्छी से अच्छी सम्पति को लूट लेने वाला बाली क्या तुम्हें याद है ?

इसमें शुक और सारिका रावण को दुर्नय के मार्ग से हटाने के लिये उपदेश दे रहे हैं। यहाँ सात समुद्रों पर संध्यार्चन करने से वेग के लिए प्रसिद्ध, महिषरूप दानव का विनाशक, मायावी दानव के पीसने से निकले रक्त के द्वारा पाताल को भर देने वाला वह बाली, क्या तुम्हें स्मरण है' इस क्रियापद से 'आप भी वस्त्र के एक छोर में बांधकर बगल में रख लिये थे' यह तथ्य उचित रूप से व्यक्त हो जाता है।

श्री प्रवरसेन के इस पद्यार्थ में औचित्य नहीं मिलता :—

'सग्गं अपारिजाग्रं कोत्थुहलच्छिरहिग्रं महुमहस्स उरं।
सुमिरामि महणपुरश्रो अमुद्धग्रन्दं हरग्रड़ापब्भारं ॥'
'स्वर्गमपारिजातं कौस्तुभलक्ष्मीरहितं मधुमथनस्योरः ।
स्मरामि मथनपुरतोऽमुग्धचन्द्रं च हरजटाप्राग्भारम् ॥'

अत्र जाम्बुवताभिधीयमाने 'स्वर्गमपारिजातं कौस्तुभलक्ष्मीभ्यां विरहितं मधुमथनस्योरः स्मराम्यमृतमथन पुरतोऽप्यबालचन्द्रं हरजटा-प्राग्भारम्' इति प्रगुणगुणख्यानप्रसङ्गे क्रियापदेन जराजर्जरशरीरत्व-मात्रमेव प्रतिपादितम्। न तु पौरुषोत्कर्षविशेषातिशयः कश्चिदुचितः संसूचितः ॥ कारकौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) सान्वयं शोभते वाक्यमुचितैरेव कारकैः ।
कुलाभरणमैश्वर्यमौदार्यं चरितैरिव ॥२०॥

(वृ०) उचितैरेव कारकैः सदन्वयवद्वाक्यं विराजते सद्वंशभूषितमैश्वर्यं सच्चरितैरिव ॥ कर्तृपदौचित्यं यथा भट्टबाणस्य—

'समुद्र मंथन से पहले बिना पारिजात का स्वर्ग, कौस्तुभ तथा लक्ष्मी से शून्य विष्णु के वक्षस्थल और बाल चन्द्रमा से शून्य शिव के जटाभार का मैं स्मरण करता हूं।'

यह उक्ति जाम्बुवान की है और प्रकृष्ट गुणों के कथन का यह प्रसंग है। पर क्रियापद से शरीर के केवल जरा जर्जरित होने की व्यजना हुई है। पौरुष के उत्कर्ष का उल्लेख, जो उचित था, वर्णित नहीं हुआ।

कारक का औचित्य —

जैसे कुल का आभरण ऐश्वर्य उदार चरितों से शोभायमान होता है उसी प्रकार उचित कारकों से सान्वय बना वाक्य शोभा पाता है।

उचित कारकों से ही श्रेष्ठ अन्वय वाला वाक्य अच्छा लगता है, अच्छे वंश से विभूवित ऐश्वर्य जैसे सच्चरितों से कर्तृपद का औचित्य जैसे भट्टबाण के इस पद्यार्थ में: —

'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ।।'

अत्र शत्रुस्त्रियो व्रतं चरन्तीति वक्तव्ये, स्तनयुगं वाष्प सलिलस्नातं शोकाग्निसमीपवर्ति विमुक्तभोजनं विगतमुक्ताहारं च सद्व्रतं चरतीत्युक्ते कर्तृपदमौचित्यमुपचितं जनयति न तु यथा परिमलस्य—

'आहारं न करोति नाम्बु पिबति स्त्रैणं न संसेवते
शेते यत्सिकतासु मुक्तविषयश्चण्डातपं सेवते ।।
त्वत्पादाब्जरजः प्रसादकणिकालोभोन्मुखस्तन्मरौ
मन्ये मालवसिंह, गुर्जरपतिस्तीव्रं तपस्तप्यते ।।'

अत्र गुर्जरपतिर्विद्रुतो मरुगहनं प्रविष्टः परित्यक्ताहारादि समस्त विषयश्चण्डातपोपसेवी तपश्चरतीति यदुक्तं तत्कर्तृपदस्य विशेषाभि-

---

'राजन् ! तुम्हारी रिपु स्त्रियों का स्तन युगल अश्रुस्नात होकर, हृदय की शोकाग्नि के समीप में बैठकर और विमुक्ताहार (आहार छोड़कर तथा मोतियों के हार से शून्य बनकर) बनकर व्रत सा करता है ।'

यहाँ कहना यह था कि शत्रु स्त्रियाँ व्रत करती हैं पर उसके स्थान पर 'स्तनयुग ही वाष्पसलिल में स्नान कर शोकाग्नि का समीपवर्ती बनकर और आहार या हार त्यागकर व्रत करता है' यह कहा गया है । इसमें कर्तृपद का विलक्षण प्रयोग है और इससे औचित्य की वृद्धि होती है ।' परिमल कवि के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं है:

'हे मालवसिंह. गुर्जरपति न भोजन करता है न जल पीता है । स्त्रियों का सेवन उसने छोड़ दिया है । अन्य विषयों को भी त्याग कर वह वालू पर पड़ा सोता है और प्रचण्ड धूप का सेवन करता है । मानों यह सब तुम्हारे चरण-कमलों के धूलि-कणों का प्रसाद पाने के लिए मरुस्थल में वह करता ।

यहाँ प्रतिपाद्य यह है कि गुर्जरपति भाग कर मरुस्थल में चला गया है । उसने आहारादि सब छोड़ दिये हैं और प्रचण्ड धूप का सेवन करते हुए वह तपश्चर्या करता है । इसमें तथ्य निवेदन सा लगता है । इस प्रकार यहाँ

प्रायोचितं न किंचिदुपलक्ष्यते शत्रुत्रासतरलतया मरुकान्तारान्तरावसन्नः सकलविषयसुखभोगपरिभ्रष्टः किमन्यत्कुरुतासू । स्तनयुगवत्कर्तृ पदस्य चमत्कारोचितं न किंचिदभिहितम् ।। कर्मपदोचित्यं यथा मम लावण्यवत्याम्—

कर्म पद गत औचित्य —

'सदा सक्तं शैत्यं विमलजलधारापरिचितं
घनोल्लासः क्ष्माभृत्पृथुकटकपाती वहति यः
विधत्ते शौर्य श्रीश्रवणनवनीलोत्पलरुचिः
स चित्रं शत्रूणां ज्वलदनलतापं भवदसिः ।।'

अत्र निश्चलममलजलधारागतं शैत्यं तैक्ष्ण्यं शीतलत्वं च, घनोल्लासो निबिडोत्साहः पर्जन्यतुल्योदयश्च, क्ष्माभृतां सानुसैन्यनिपाती वहति स शौर्य श्रीश्रवणनवनीलोत्पल तुल्यस्त्वत्खड्गश्चित्रं शत्रूणां संतापं करोतीति यदुक्तं तत्कर्मभूतस्य तापस्य शिशिरतरसामग्रीजन्मनः परं वैचित्र्यं रुचिरमौचित्यमासूत्रितम् ।। न तु यथा ममैवावसरसारे —

कर्त्ता का प्रयोग नहीं हुआ कि कुछ विशेष अभिप्राय के उचित प्रतीत होता। शत्रु के भय से डरकर मरुवनों में घूमते हुए, विषय भोग परिभृष्ट वह और करता भी क्या ? स्तनयुग को कर्त्ता बनाकर औचित्य का जैसा प्रकष पहले पद्यार्थ में विद्यमान है वैसा इसमें नहीं है।

ग्रन्थकार की 'लावण्यवती' पुस्तक में कर्म पदका औचित्यः—

'हे राजन्, तुम्हारी तलवार में स्वच्छधार का शेत्य वर्तमान है, वह बादलों जैसा चमकता है और क्षमामृतों (राजा और पर्वत) के बड़े-बड़े कटकों (सेना और शिखरों) को गिराता हुआ बहता है। शौर्य के कानों के लिए नूतन कमल पत्रों जैसा वह है। फिर भी आश्चर्य है कि शत्रु के लिये जलती आग का सा संताप वह उत्पन्न करता है।

यहां पर निश्चल, अमल अलधारा की शीतता-तीक्ष्णता और शीतलता धारण करने वाला घनोल्लास-घनाउत्साह और बादलों के समान उठान, क्ष्मामृत राजाओं और पर्वतों की, पृथुकटकपाती बड़ी सेनाओं का संहारक और शिलाओं को बहाने वाला, वह शौर्य लक्ष्मी के कानों के नीलोत्पल के समान खड्ग शत्रुओं का संताप करता है। यह आश्चर्य है। यह जो उक्त हुआ है उसमें ताप रूपी कर्म का शीतल सामग्री से जन्म होने के कारण बड़ा रुचिर औचित्य सूचित हो गया है। यही बात ग्रन्थकार के अपने 'अवसार सार' ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में नहीं है।

'भग्नाहितश्वसितवातविबोध्यमानः
काष्ठाश्रयेण सहसैव विवृद्धिमाप्तः ।
तापं तनोति निहतारिविलासिनीनां
वह्निद्युतिर्भुवननाथ भवत्प्रतापः ॥'

अत्र विद्रुतारातिनिःश्वसितानिलप्रबोध्यमानः काष्ठाश्रयेण दिक्चक्रपूरणेन प्रौढ़तां प्राप्तः पावकतुल्यस्त्वत्प्रतापः शत्रुकान्तानां तापमात्रं तनोतीति तत्समुचितमाश्चर्यं न किंचित् ॥ कारणौचित्यं यथा गौडकुम्भकारस्य—

'लाङ्गूलेन गभस्तिमान्वलयितः प्रोतः शशी मौलिना
व्याधूता जलदाः सटाभिरुडवो दंष्ट्राभिरुत्तम्भिताः ।
प्रोत्तीर्णो जलधिर्हं शैव हरिणा स्वैराट्टहासोर्मिभि-
र्लङ्केशस्य च लङ्घितो दिशि दिशि प्राज्यः प्रतापानलः'

'हे भुवननाथ, अग्नि जैसा आपका प्रताप भगोड़े शत्रुओं की श्वासों से बढ़ कर और काष्ठाश्रयण (दिशाओं में फैलना और लकड़ी का सहारा लेना) से और भी द्विगुणित होकर मारे गए शत्रुओं की स्त्रियों को संताप देता है ।'

यहाँ राजा का प्रताप भागने वाले शत्रुओं के श्वासानिल से प्रज्वलित होता है और दिशाओं में फैलकर ईंधन से प्रदीप्त अग्नि की भाँति प्रौढ़ बनता है । वही फिर शत्रु-कान्ताओं को संताप देता है । इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? यहाँ रुचिर औचित्य कुछ भी नहीं है ।

करण कारक का औचित्य—

गौड़ कुम्भकार कवि ने नीचे लिए पद्यार्थ में करण कारक का औचित्य :—

'हनुमान वानर के समुद्र लंघन के समय अपनी पूँछ से सूर्य का घेरा बाँध दिया, सिर से चन्द्रमा को छू डाला, सटाओं से बादलों को कपा दिया और डाढ़ों से तारों को उखाड़ लिया । देखते ही देखते वह समुद्र को लांघ गया । उसके निर्मुक्त अट्टहास की उर्मियों ने लंकेश का बढ़ा-चढ़ा प्रतापानल भी बुझा दिया ।'

अत्र हरिणा हनुमता जलनिधितरणे तरणिर्लाङ्गूलेन वलयितः किरीटप्रान्तेन शशी प्रोतः सटाभिर्मेघा व्याधूतास्तारा दंष्ट्राभिरायासितास्तीर्णोऽब्धिरट्टहासतरङ्गैर्लङ्केशस्य विस्तीर्णः प्रतापाग्निः शमित इति बहुभिः करणपदैः उत्साहाधिवासितैर्विस्मयशिखरारोहणसोपानैरिव रघुपतिप्रभावारम्भविजयध्वजायमानस्य पवनसूनोरौचित्यातिशयः प्रकाशितः ॥ न तु यथा भट्टबाणस्य—

'जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो बिभित्सया यः क्षणलब्धलक्षया ।
दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्रपाटलम् ॥'

अत्र भगवतो नृसिंहस्य कोपरक्तया दृष्ट्यैव क्षणलब्धलक्षया हिरण्यकशिपोर्वक्षः स्वयं भयाद्भिन्नमिवेति यदुक्तं तन्महोत्साहपराक्रमस्य प्रतिनायकस्य रिपोः प्रधाननायकप्रतापोद्दीपनोपकरणीभूताधिक-

---

यहाँ बताया गया है कि हनुमान ने समुद्र लांघने के समय अपनी पूँछ से समुद्र का घेरा बाँध दिया, मस्तक से चन्द्रमा का स्पर्श किया, सटाओं से बादलों को कँपाया, डाढ़ों से तारों को उखाड़ दिया । इसमें करण कारक अनेक हैं । इनसे हनुमान के उत्साह की द्योतना होती है । विस्मयानुभूति के शिखर पर चढ़ने के वे सोपान से बन जाते हैं । फलस्वरूप श्रीराम के विजय की ध्वजा के समान हनुमान का औचित्यातिशय इससे प्रकट होता है । बाणभट्ट के इस पद्यार्थ में इस प्रकार का औचित्य नहीं मिलता—

'नृसिंह भगवान की जय हो, जिन्होंने भेदन करने की इच्छा से शत्रु के वक्षस्थल पर जो कोपारुण दृष्टि क्षण भर के लिये डाली तो ऐसा बना दिया मानों वह भय से ही फट गया हो ।'

इसमें बताया गया है कि नृसिंह भगवान की क्षण भर की कोपारुण दृष्टि से हिरण्यकशिपु का वक्षस्थल स्वयं मानो भय से फट गया । यहाँ प्रधाननायक नृसिंह भगवान् हैं । प्रतिनायक है हिरण्यकशिपु । उसे उत्साही पराक्रमी और धैर्यशील दिखाने से ही प्रधान नायक के प्रतापोद्दीपन के लिये उपकरण का लाभ हो सकता है । 'भय मात्र से ही वह फट गया' ऐसा कहने से हिरण्यकशिपु

धैर्यस्य स्वयं भयविह्वलतया हृदयस्फुटन मित्युपचितमनौचित्यं 'दृशैव' करणपदस्य शिरसि विश्रान्तम् ॥ सम्प्रदानौचित्यं यथा भट्टप्रभाकरस्य-

'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥'

अत्र दिग्गजचतुरस्रा भूः साध्यते, सा च सिद्धा हेलयैवान्नमुष्टिरिवै-कस्मै विप्रमात्राय प्रतिपाद्यत इति निरतिशयौदार्याश्चर्यचमत्कार-रुचिरौचित्यचर्वणया वयं रोमाञ्चिताः पश्यत, रोमाञ्चस्य प्रत्यक्षपरि-दृश्यमानत्वात् । किमपरमपूर्वत्यागिने भार्गवाय तस्मै नम इति विप्रायेति संप्रदानपदगत एवोत्कर्षविशेषः प्रकाशते । न तु यथा राजशेखरस्य—

की दुर्बलता द्वारा नृसिंह भगवान की दृष्टि का महत्व कम हो जाता है । यह अनौचित्य करण कारक के सिर पर मानो बैठ गया ।

सम्प्रदानगत औचित्य—

यह प्रभाकर के इस श्लोकार्थ में विद्यमान है ।

'दिग्गजों की घटाओं तक चारों दिशाओं में फैली पृथ्वी की साध सभी करते हैं । यह कहते हम रोमांचित हो जाते हैं कि परशुराम ने उसी पृथ्वी को सिद्ध कर लेने के बाद एक ब्राह्मण को दान में दे डाला । इससे अधिक और क्या ? उन्हें प्रणाम है । यह अद्भुत कथा जहाँ से प्रादुर्भूत हुई वहीं पर अस्त हो गई ।'

विस्तृत पृथ्वी को प्राप्त करने की सब साध करते हैं । परशुराम ने उसे सिद्ध कर अन्नमुष्टि की भाँति क्रीड़ा सी में एक ब्राह्मण को दान कर दिया । इस निरतिशय औदार्य के आश्चर्य चमत्कार से रुचिर औचित्य का जन्म होता है जिसका अनुभव करते हुए हम भी रोमांचित हो जाते हैं । और क्या, उन महात्यागी भार्गव को प्रणाम है । इस वाक्यार्थ में ब्राह्मण को यह एक वचन के सम्प्रदान में चमत्कार के विशेष उत्कर्ष की प्रतीति है । राजशेखर के इस पद्यार्थ में वैसी बात नहीं ।

'पौलस्त्यः प्रणयेन याचत इति श्रुत्वा मनो मोदते
देयो नैष हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति ।
तद्वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही
तुभ्यं ब्रूहि रसातलत्रिदिवयोर्निर्जित्य किं दीयताम् ॥'

अत्र रावणदूतेन परशुं याचितो भार्गवो ब्रूते 'नैष हरप्रसादलब्ध परशुर्दानयोग्यः । तत्तस्मादस्मद्वचसा स दशग्रीवो वाच्यः, पृथ्वी मया कश्यपाय प्रतिपादिता । तुभ्यं पातालत्रिदिवयोर्मध्यात्किं निर्जित्य दीयताम्' इत्यनुचितं मुनेर्लोकहितप्रवृत्तस्य त्रैलोक्यकण्टकभूताय राक्षसाय भुवनप्रतिपादनम् ॥ अपादानौचित्यं यथा मालवरुद्रस्य—

'एतस्माज्जलधेर्मिताम्बुकणिकाः काश्चिद्गृहीत्वा ततः
पाथोदाः परिपूरयन्ति जगतीं रुद्धाम्बरा वारिभिः ।

'पौलस्त्य प्रेम के साथ याचना करते हैं । यह सुनकर मन प्रसन्न होता है । परन्तु शिव से प्रसाद में प्राप्त हुआ यह परशु देने की वस्तु नहीं, इससे बहुत खेद होता है । इसलिये हमारी ओर से दशानन को कहना कि हमने ब्राह्मणों को तो पृथ्वी दे डाली । अब आकाश और पाताल में से जीत कर उन्हें क्या प्रदान किया जाय, कहें' ।

रावण का दूत उसके लिए भार्गव से परशु मांगता है । इस पर वे उत्तर देते हैं कि शिवजी से प्रसाद में प्राप्त हुआ यह परशु देने योग्य नहीं है । इसलिए हमारी ओर से दशानन को कहना कि पृथ्वी तो हमने कश्यप को दान करदी । तुम्हें आकाश पाताल में से क्या चीज जीत कर प्रदान की जाय । इसमें लोकहित में प्रवृत्त मुनि का त्रिलोकी के लिये कण्टकभूत रावण को इतना बड़ा दान देना अनुचित है ।

अपादान का औचित्य मालवरुद्र के निम्नलिखित पद्यार्थ में—

'बादल इस समुद्र से ही जल की कुछ परिमित कणिकाएं लेकर आकाश को घेर लेते हैं और पृथ्वी को जलप्लावित कर देते हैं । विष्णु भी इसी में

भ्राम्यन्मन्दरकूटकोटिघटनाभ्तोतिभ्रमत्तारकां
प्राप्यैकां जलमानुषीं त्रिभुवने श्रीमानभूदच्युतः ॥

अत्र यदुक्तमेतस्मान्महोदधेः परिमिताम्बुकणिकाः प्राप्य जलदा जगत्पूरयन्ति तथा भ्रमन्मन्दरकूटकोटिसंघट्टत्रासतरलतारकामेकां जलमानुषीं श्रियं प्राप्य श्रीमानच्युतोऽभूदिति तेन सागरगत निरतिशयोत्कर्षविशेषः प्रदर्शितः । एतस्माज्जलधेरित्येतत्पदम् औचित्यस्य मूलभूमिः ॥ न तु यथा भट्टेन्दुराजस्य—

'आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं नाम साधितमनेन महार्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालमूलकुहरे विनिवेशितं च ॥'

अत्र महार्णवव्यपदेशेनान्यायोपार्जितद्रविणदुर्व्ययकारिणः सत्संविभागविमुखस्य कस्यचिदुच्यते । सरितां मुखेभ्यः समन्तात्तोयमादाय अपात्रेभ्यः प्रतिपादितं दूषितम् । यत्त्वत्र सरिद्भ्यः समादायेति वक्तव्ये

घूमते हुए मन्दराचल के शिखरों के परस्पर संघर्षण को देखकर भयभीत नेत्रों वाली एक जलमानुषी को प्राप्त कर श्रीमान बन गए ।'

जैसा कि पद्यार्थ में कहा गया है, इस समुद्र से कुछ परिमित कणिकाओं को प्राप्त कर बादल संसार भर को जल से भर देते हैं और इसी से समुद्र मन्थन के समय घूमते हुए मन्दराचल के शिखरों के संघर्षण से भयभीत बनी एक जल मानुषी लक्ष्मी को लेकर विष्णु श्रीमान बन गए । इससे सागर का उत्कर्ष विशेष दिखाया गया है । इस औचित्य की मूल भूमि है, 'इस समुद्र से' इतना अपादान कारकान्त पद । भट्टेन्दुराज के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह नहीं है:—

'इस महार्णव ने चारों ओर की नदियों के मुँह से जल निकाल कर क्या किया ? उसे खारा बनाया, वडवाग्नि में जलाया और पाताल की गहरी गुफा में रख दिया ।'

यहाँ महार्णव के बहाने से अन्याय से धन एकत्र कर बुरी भाँति व्यय करने वाले तथा उसका उत्तम संविभाग न करने वाले किसी व्यक्ति का वर्णन है । नदियों के मुँह से जल एकत्र कर अपात्रों को उसे दे डालने के दोष का

सरिन्मुखेभ्य इति यदुक्तं मुखशब्दस्य नैरर्थक्याद् अत्रानौचित्यमेव पर्यवस्यति ।। अधिकरणौचित्यं यथा कुन्तेश्वर दौत्ये कालिदासस्य—

अधिकरण कारक का औचित्य –

'इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये ।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राज्यमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ।।'

अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्ह-मासनमनासाद्य कार्यवशेन भूमावेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणैवं ब्रूते-यथास्मद्विधानां वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भप्राग्भार निष्कम्पे धरासने स्थानं युक्तं यस्मादिहैव मेरुरचल चक्रवर्ती समुपविष्टः सप्तमहाब्धयश्च तत्तुल्यतैवास्माकम् इत्यौचित्यमधिकरणपदसंबद्धमेव । न तु यथा परिमलस्य —

उल्लेख है । 'पर नदियों से' यही कहना उचित था उसके स्थान पर नदियों के मुख को अपादान बनाने में मुख शब्द निरर्थक हो जाता है । अतः अपादान कारक गत अनौचित्य यहाँ विद्यमान है ।

अधिकरणौचित्य कालिदास के 'कुन्तेश्वरदौत्य' ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में मिलता है :—

'यहाँ पर्वतों का मूर्धन्य मेरु निवास करता है, यहीं पर सातों और अन्य भी समुद्र अपना अपना भार रखे हुए हैं । ऐसा यह धरणितल शेषनाग के फण के स्तम्भों पर विराजमान हैं । हमारे जैसों का यही स्थान उचित हैं ।

किसी महाराज का दूत उसके सामन्त के यहाँ गया । वहाँ उसे अपने स्वामी के समुचित पूजार्ह स्थान न मिला । फिर भी कार्य वश भूमि पर ही बैठना पड़ा तो अपने गौरव की रक्षा करता हुआ प्रगल्भता के साथ कहता है । कि हमारे जैसों के लिए शेषनाग के फणों पर स्थित अतः अडिग पृथ्वी पर ही उचित आसन हो सकता है । यहीं पर सातों समुद्र तथा मेरुपर्वत स्थित है । उन्हीं के तुल्य हम हैं । यह औचित्य भाव अधिकरण कारक के पद से सम्बद्ध है । परिमल के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं है ।

'तत्र स्थितं स्थितिमतां वर देव दंवा-
दृभृत्येन ते चकितचित्तमियन्त्यहानि ।
उत्कम्पिनि स्तनतटे हरिणेक्षणानां
हारान्प्रवर्तयति यत्र भवत्प्रतापः ॥'

अत्र त्वत् भृत्येन मया तत्र तस्मिनदेशे स्थितं यत्र भवत्प्रतापः कम्पतरलस्तनतटे हरिणदृशां हारान्प्रवर्तयति इति यदुक्तं तेन शौर्यश्रृंङ्गारगुणोत्कर्षस्तुतौ सर्वतो दिग्गमनाविच्छिन्नप्रसरः प्रतापः पारिमित्यं प्राप्तः । एकत्र परिच्छिन्ने देशे मया तत्र स्थितं यत्र त्वत्प्रताप स्तरुणीस्तनतटेषु हारतरलनं करोत्यन्यदेशे विलक्षणमुपलक्षणम् । सर्वगतश्चेत्प्रतापस्तत्सर्वत्रैव मया स्थितमिति वक्तव्ये तत्रेत्येकदेशाभिधायि पदं नोपपद्यते । दस्युमात्रस्याप्येकदेशे जृम्भमाणप्रतापत्वात् । तदत्राधिकरणपदगतमनौचित्यमुपलभ्यते । तत्र तत्र मया स्थितं यत्र यत्र भवत्प्रताप इत्येव स्तुत्युचितं युक्तमुक्तं स्यात् ॥

लिङ्गौचित्यं दर्शयितुमाह—

'स्थिति मानों में श्रेष्ठ हे देव ! आपका भृत्य मैं चकित चित्त होकर इतने दिन वहाँ ठहरा जहाँ आपका प्रताप सुन्दरियों के कंपायमान स्तनतटों पर हारों को चलायमान कर देता है ।'

इसमें कहा गया है कि मैं आपका सेवक उस देश में ठहरा जहाँ आपका प्रताप सुन्दरियों के काँपते हुए स्तनों पर हारों को चलायमान बना देता है । इस कथन से शौर्य और शृंगार का गुणोत्कर्ष वर्णनीय है पर अधिकरण कारक के प्रयोग से सर्वत्र दिशाओं में फैलने वाले प्रताप को सीमित कर दिया गया । एक सीमित प्रदेश में मैं वहाँ ठहरा जहां आपका प्रताप युवतियों के स्तनतटों पर हार को चंचल बना देता है । अन्य प्रदेश में इससे भिन्न स्थिति है —यह उपलक्षित हुआ । यदि राजा का प्रताप सर्वत्र था तो 'सर्वत्र ही मैं ठहरा' यह कहना चाहिए था । इस पर किसी एक देश का बोधक पद उचित नहीं है । किसी एक स्थान में तो चोर का भी प्रभाव बढ़ा चढ़ा हो सकता है । यह अनौचित्य अधिकरण गत है । कहना यह चाहिये था कि 'मैं वहाँ-वहाँ ठहरा जहाँ जहाँ आपका प्रताप था' । स्तुति के उचित यही है ।

(का०) उचितेनैव लिङ्गेन काव्यमायाति भव्यताम् ।
साम्राज्यसूचकेनेव शरीरं शुभलक्ष्मणा ॥२१॥

(वृ०) प्रस्तुतार्थोचितेन लिङ्गेन काव्यं भव्यतामुपयाति,
राजलक्षणेनेव शरीरम् ॥ यथा मम ललितरत्नमालायाम् —

'निन्द्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचि-
द्दीर्घां वेत्ति कथां व्यथां न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम् ।
तेनाराधयता गुणस्तव जपध्यानेन रत्नावलीं
निःसङ्गेन पराङ्गनापरिगतं नामापि नो सह्यते ॥'

अत्र वत्सेश्वरस्य रत्नावलीविरहविधुरचेतसः स्मरावस्था समुचितं विदूषकेण सुसंगतायै यदभिहितं निद्रां न स्पृशति, धृतिं त्यजति, स्थितिं न धत्ते, दीर्घां कथां व्यथामिव वेत्ति, निर्वृतिं न भजते, तां विना तेन तद्गुणजापिना तद्ध्याननित्येन जनसङ्गत्यागिनाऽन्यासामङ्ग-

---

जिस प्रकार साम्राज्य सूचक शुभ लक्षणों से शरीर भव्य बन जाता है । उसी प्रकार उचित लिंग के शब्दों का प्रयोग करने से काव्य में विशेष चारुता आ जाती है ।

उचित लिंग का तात्पर्य प्रसंगोचित लिंग के प्रयोग से है । उसी से काव्य भव्य बनता है जैसे राजचिन्ह से शरीर ग्रन्थकार की 'ललित रत्नमाला' का यह श्लोक उदाहरण हैं :—

'वह निद्रा का स्पर्श भी नहीं करता : धृति को त्याग चुका है । कहीं भी ठहर नहीं पाता । लम्बी कथाओं को व्यथा समझता है । शान्ति उसे किसी भी प्रकार से नहीं मिलती । रत्नावली की आराधना करता हुआ उसके गुणस्तव और जप ध्यान में इतना निःसंग हो गया है कि दूसरी अंगना का नाम भी उसे सह्य नहीं ।

यहाँ रत्नावली के बियोग से दुःखी उद्यन की कामदशा की सूचना विदूषक सुसंगता को दे रहा है । यहां कहा गया है कि वह निद्रा का स्पर्श नहीं करता, स्थिरता उसे नहीं है, लम्बी बातों को व्यथा जैसी समझता है; शान्ति उसे नहीं मिलती; उसके विरह में वह उसी के गुणों का जप और निरन्तर ध्यान

नानां नाममात्रमपि न सह्यते। स्थितिधृति कथानिवृत्तीनां स्त्रीलिङ्गाभिधानेनाङ्गनात्वाध्यारोपेण परममौचित्यं प्रतिपादितम् ॥ न तु यथा मम नीतिलतायाम्।

'वरुणरणसमर्था स्वर्गभङ्गैः कृतार्था,
यमनियमनशक्ता मारुतोन्माथसक्ता।
धनदनिधनसज्जा लज्जते मर्त्ययुद्धे
दहनदलनचण्डा मण्डली मद्भुजानाम् ॥'

अत्र रावणः कपिनिकारामर्षविषमविकाराविष्करोचितं ब्रूते। वरुणादि लोकपाल विशाल बलावलेपविप्लव कारिणी मर्त्यमात्र युद्धे लज्जते प्रचण्डा मद्भुजमण्डलीति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशस्त्रैलोक्यविजयोर्जितस्य प्रतापस्य कठोरतामयहरन्ननौचित्यं सूचयति ॥
वचनौचित्यं दर्शयितुमाह —

करता हुआ जनसंग त्यागकर अन्य स्त्रियों का नाममात्र भी नहीं सहता। स्थिति, धृति, कथा, निवृत्ति आदि को स्त्रीलिङ्ग में कहने से उनमें स्त्रीत्व का आरोप होने से परम औचित्य सिद्ध हो गया है। उन्हीं की 'नीतिलता' के नीचे लिखे पद्यार्थ में उक्त औचित्य विद्यमान नहीं है :—

'वरुण से रण लेने में समर्थ, स्वर्ग का भंग कर देने से कृतार्थ, यमराज के नियंत्रण में सक्षम, वायु को उखाड़ फेंकने में संलग्न, कुवेर की मृत्यु तक कर देने को उद्यत तथा अग्नि के दलन के लिए प्रचण्ड मेरी भुज-मण्डली किसी मानव से लड़ने में लज्जित होती है।'

यहां रावण अंगद के तिरस्कार से क्रोधित होकर समयोचित अपना बलशौर्य प्रकट कर रहा है। 'वरुणादि लोकपालों के बलदर्प का विध्वंस करने वाली मेरी भुज-मण्डली मानव से लड़ाई करने में लज्जित होती है।' यह उसने कहा है। लज्जा का कारण मानव युद्ध की लघुता है—यह अभिप्रेत है। पर 'भु-जमण्डली' में स्त्रीलिंग वाचक शब्द रख देने से त्रिलोकी की विजय के कारण उसका प्रताप जो प्रचण्ड बना था उसकी कठोरता जाती रही। अब तो ऐसा लगता है कि भुजमण्डली मानों अपनी कोमलता के कारण लज्जित होती है। वह स्त्री बन गई। इस प्रकार यहाँ लिंगगत अनौचित्य आ गया।

वचनगत औचित्य—

(का०) उचितैरेव वचनैः काव्यमायाति चारुताम् ।
अदैन्यधन्यमनसां वदनं विदुषामिव ॥२२॥

(वृ०) उचितैरेकवचन द्विवचनबहुवचनैः काव्यं चारुतामायाति । अदैन्योदारचेतसां विदुषामिव वदनमयाञ्चारुचिरौचित्य चारुभिर्वचोभिः ॥ यथा मम नीतिलतायाम्—

'त्रैलोक्याक्रमणैर्वराहविजयै र्निःसंख्यरत्नाप्तिभिः
प्रख्यातः स्वरसस्वयंवरशतैर्युद्धाब्धि मध्ये श्रियः ।
साश्चर्यैर्बलिबन्धनैश्च बहुभिर्नित्यं हसत्युत्थितः
पौलस्त्यः सकृदुद्यमश्रमवशाद्व्यासक्तनिद्रं हरिम् ॥'

अत्र शुकसारणाभ्यां रघुपतेरग्रे दशग्रीव पराक्रमे ऽभिधीयमाने यदुक्तं पौलस्त्यः शेषशायिनं हरिमेकवारोद्योगश्रमवशेन संसक्तालस्यनिद्रमनेक त्रैलोक्याक्रमणैर्वराह विजयिनां सुभटानां जयैरनेकरत्नप्राप्तिभिः

काव्य में चारुता उचित बचनों के प्रयोग से आती है जैसे अदीन और उदार अन्तःकरण वाले विद्वानों के मुख उचित बचनों के प्रयोग से शोभायमान होते हैं ।

जिस प्रकार विद्वान का मुख याचना रहित, उचित, सुन्दर एवं प्रिय शब्दों का प्रयोग करने से अच्छा लगता है उसी प्रकार काव्य भी एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि भाषा बचनों के समुचित प्रयोग से रमणीय बन जाता है । जैसे ग्रन्थकार की 'नीतिलता' का यह पद्य —

'पौलस्त्य ने त्रिलोकी पर अनेक आक्रमण किये हैं; योद्धाओं की अनेक विजय की हैं; असंख्य रत्नों की प्राप्तियाँ की हैं, युद्ध रूपी समुद्र में लक्ष्मी के अनेक स्वेच्छा से स्वयंवर जीते हैं और बली पुरुषों के बहुत से आश्चर्य जनक बन्धन किये हैं । इनके लिए वह प्रख्यात है । फलतः एक बार ही के श्रम से निद्रा में डूबने वाले विष्णु पर वह नित्य हँसता है ।

यहाँ शुक और सारिकायें रघुपति के आगे रावण के पराक्रम का वर्णन कर रहे हैं । शेषशायी विष्णु एक बार के उद्योग के श्रम से ही निद्रा के आलस्य में आकर समुद्र में सोते हैं पर रावण त्रिलोकी के अनेक आक्रमणों,

समरसमुद्रमध्ये बहुवारविहितैः श्रियः स्वयंवरशतैर्वलिनां च लोकपालानां बन्धनैः प्रख्यातः सदोत्थितः सोत्साहः सततं हसतीति बहुवचनैरेव हरिवैलक्षण्य लक्षणमुपचित मौचित्यमुदञ्चितम् ॥ न तु यथा मातृगुप्तस्य—

'नायं निशामुखसरोरुह राजहंसः
कीरीकपोलतलकान्ततनुः शशाङ्कः
आभाति नाथ तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु
डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम् ॥'

अत्र नायं शशी, त्वदीयमिन्दुदुग्धाब्धि फेनपिण्डपाण्डुरं यश इति यदभिहितं तदविच्छिन्नप्रसराणां यशसां बहुवचनेन वर्णनायां समुचितायामेकवचनोपन्यास चन्द्रबिम्बाकारेण पिण्डमात्र परिच्छिन्नतया संकोचरूपमनौचित्यमुद्भावयति ॥ विशेषणौचित्यं दर्शयितुमाह—

विजयी योद्धाओं पर बहुत से विजय, अनेक रत्नों की प्राप्तियों, युद्ध रूपी समुद्र से वहुत बार विजयश्री के स्वयंवरों तथा लोकपाल आदि वलवानों के अनेक बार बन्धन कर लेने के वाद भी सदा जागृत एवं सोत्साह बना रहता है। इसीलिए वह विष्णु पर हँसता है। यहाँ रावण के कार्यों को बहुवचन में कहकर उसे विष्णु से विलक्षण व्यञ्जित किया गया है। इससे औचित्य उभर आया। यही गुण मातृगुप्त के निम्नलिखित पद्यार्थ में नहीं मिलता।

'स्वामिन्, काश्मीरी तरुणी के कपोलतल जैसा कमनीय शरीर वाला यह चन्द्रमा रात्रि का मुख, कमल अथवा राजहंस नहीं है। यह तो आकाश में दुग्ध सिन्धु के फेनपिण्ड की भाँति श्वेत और चमकीला आपका यश है।'

इसमें कहा गया है कि यह चन्द्रमा नहीं है बल्कि दुग्धाब्धि के फेनपिण्ड की भाँति श्वेत राजा का यश है। यश का प्रचार अनेकत्र होता है, अतः उसका बहुवचन से वर्णन करना चाहिए। एक वचन के प्रयोग से तो यश का स्वरूप चन्द्रपिण्ड के आकार सा सीमित हो जाता है। अतः अनौचित्य उद्भावित होता है।

विशेषणौचित्य—

(का०) विशेषणैः समुचितैर्विशेष्योऽर्थः प्रकाशते ।
गुणाधिकैर्गुणोदारः सुहृद्भिरिव सज्जनः ॥ २३ ॥

(वृ०) काव्ये विशेष्योऽर्थः समुचितैरेव विशेषणैः शोभां लभते । गुणोदारः साधुर्यथाभ्यधिकगुणैः सुहृद्भिः ॥ यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'चैत्रे सूत्रितयौवनान्युप वनान्यामोदिनी पद्मिनी
जोत्स्नाप्रावरणानि रत्नवलभीहर्म्याणि रम्याः स्त्रियः ।
सर्वं चारुतरं न कस्य दयितं यस्मिस्तु तद्भुज्यते
तत्मृन्निर्मितमामभाजनमिव क्षिप्रक्षयं जीवितम् ॥'

अत्र युधिष्ठिरस्यासादितमहाविभूतेर्मयनिर्मितमणिमयसभाभिमानिनो विभवप्रभावे वर्ण्यमाने सकलभावाभावस्वरूपाभाववादोपदेशिनो महामुनेराशयविचारावसरे यदुक्तं कुसुमसमयसमुपचितयौवनान्युप—

समुचित विशेषणों से विशेषित होकर काव्यार्थ ऐसा रमणीय हो जाता है जैसा गुणी मित्रों से गुणशाली सज्जन ।

काव्य के मुख्य अर्थ की शोभा विशेषणों द्वारा ही होती है जैसे गुणोदार सत्पुरुष की शोभा गुणशाली मित्रों से होती है । उदाहरण ग्रन्थकार की मुनिमत मीमांसा का यह पद्य—

'चैत्र मास के नवीन यौवन भरे उपवन, आमोदपूर्ण कमलिनी, चाँदनी की चादर ओढ़े रत्नों की अटारियों के महल, रमणीय युवतियाँ यह सब सुन्दर हैं । वे किसे प्रिय नहीं हैं ? पर जिसमें इनका भोग होता है वह जीवन तो मिट्टी के कच्चे घड़े जैसा क्षिप्रक्षयी है ।'

महाराज युधिष्ठिर को महान विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं । मय दानव के बनाये हुये मणिमय सभा-भवन पर उन्हें अभिमान भी है । इस पृष्ठ भूमि में उनके विभव का वर्णन करते हुये समस्त पदार्थों के अभाववाद का उपदेश देने वाले महामुनि व्यास के आशय का इस पद्यार्थ में विचार किया गया है । वसन्त में अपने पूर्ण यौवन के साथ खिले हुए उपवन, मकरन्द की सुगन्ध से

वनानि मकरन्दामोद-सुन्दरारविन्दिनीज्योत्स्नापटप्रावृतानि रत्नवलभोहर्म्याणि रमणोया रमण्यश्चेति सर्वमेतच्चारुतरं सर्वस्याभिमतम्। किं तु यस्मिनभुज्यते तज्जीवितमाममृत्पात्रनिःसारं क्षिप्रक्षयमिति तद्विशेष्यपदोत्कर्षकारिविशेषणपदोदितसौन्दर्येण पर्यन्तनिःसारतानिर्वेदसंवादि स्फुरदौचित्यम् आतनोति। न तु यथा भट्टलट्टनस्य—

'ग्रीष्मं द्विषन्तु जलदागममर्थयन्तां
ते सकटप्रकृतयो विकटास्तडागाः।
अब्धेस्तु मुग्धशफरीचटुलाचलेन्द्र—
निष्कम्पकुक्षिपयसो द्वयमप्यचिन्त्यम् ॥'

अत्र ग्रीष्म द्विषन्तु, मेघागमं संकटस्वभावा विकटा विस्तीर्णाश्च तटाकाः प्रार्थयन्ताम्, महाब्धेस्तु बालशफरीलोलाचलेन्द्रनिश्चलकुक्षिपयसो ग्रोष्मघनागमावप्यगणनीयाविति यदुक्तम्, तत्र तडागविशेषणयोः

परिपूर्ण कमलिनियाँ, चांदनी में चमकने वाले अट्टालिकाओं वाले महल तथा रमणीय युवतियाँ ये सब सुन्दर हैं तथा सभी को प्रिय हैं पर जिस जीवन में इनका भोग किया जाता है वह तो मिट्टी के कच्चे घड़े की भांति निस्सार तथा नश्वर है। यहाँ विशेष्य पद का उत्कर्ष बढ़ाने वाले ऐसे विशेषण हैं जिनसे उत्पन्न हुआ सौन्दर्य अन्त में निःसारता निर्वेद आदि के भाव उभारता हैं। उससे औचित्य आता है। यही विशेषता भट्टलट्टन के निम्नलिखित पद्यार्थ में नहीं है।

'बड़े बड़े तालाब संकट में पड़ कर ग्रीष्म ऋतु से द्वेष एवं वर्षा ऋतु से याचना करें। पर समुद्र को इन दोनों का विचार भी नहीं आता। उसकी कोख में मद्राचल छोटी-छोटी मछलियों की भाँति घूमता है और इससे उसके पेट का पानी भी नहीं हिलता।'

यहाँ बताया गया है कि संकट में पड़ कर बड़े बड़े तालाब वर्षा से द्वेष करें और जलदागम की याचना करें पर समुद्र इतना महान है कि उसे इन दोनों की कोई चिन्ता नहीं। उसकी तो कुक्षियों का जल चलायमान मन्द्राचल से भी नहीं हिला था। इसमें तालाब के दो 'विशेषण संकट में पड़ कर' तथा 'बड़े बड़े' परस्पर विपरीत हैं अतः अनुचित हैं। जो संकटग्रस्त है वह

संकटविकटपदयोः परस्परविरुद्धार्थयोरनौचित्यं स्पष्टमवभासते। संकटस्वभावस्य हि विकटत्वं विस्तीर्णत्वं नोपपद्यते। अथ स्वभावे संकटत्वमाकारे विपुलत्वं तदपि तटाकस्य निश्चेतनस्य स्वभावाभावादनुपपन्नमेव ॥ उपसर्गौचित्यं दर्शयितुमाह—

उपसर्गौचित्य—

(का०) योग्योपसर्गसंसर्गैर्निरर्गलगुणोचिता।
सूक्तिर्विवर्धते संपत्सन्मार्गगमनैरिव ॥२४॥

(वृ०) उचितैः प्रादिभिरुपसर्गैः सूक्तिरुन्नतिमासादयति। विभूतिरिव सन्मार्गगमनैः ॥ यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'आचारं भजते त्यजत्यपि मदं वैराग्यमालम्बते
कर्तुं वाञ्छति सङ्गभङ्गगलितोत्तुङ्गाभिमानं तपः।
दैवन्यस्तविपर्ययैः सुखशिखाभ्रष्टः प्रणष्टो जनः
प्रायस्तापविलीनलोहसदृशीमायाति कर्मण्यताम् ॥'

विस्तीर्ण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि कोई तालाब स्वभाव में संकटापन्न तथा आकार में विस्तृत है तो यह बात भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि तालाब जैसी निश्चेतन वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकता।

योग्य उपसर्ग के योग से स्वच्छन्द गुणों से उचित बनी सूक्ति इसी प्रकार और अधिक बढ़ जाती है जैसे सन्मार्ग के आश्रयण से संपत्ति।

काव्यगत सूक्ति 'प्र' आदि उपसर्गों से और अधिक सुचारु बन जाती हैं जैसे सन्मार्ग के गमन से विभूति। उदाहरण के लिये ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का निम्नलिखित पद्यार्थ देखना चाहिये।

'भाग्य विपर्यय हो जाने से जब व्यक्ति सुख के उच्च शिखर से गिर जाता है तो वह अग्नि में गले हुए लोहे की भाँति कर्मण्य बन जाता है। वह आचार का पालन करता है। अभिमान छोड़ कर वैराग्य ले लेता है। साथियों का भंग हो जाने से उसका उत्तुङ्ग अभिमान गल जाता है तथा वह तप करना चाहता है।'

अत्र दुर्योधनस्य घोषयात्रायां गन्धर्वबन्धपराभवभग्नाभिमानस्य प्राज्यसाम्राज्यमुत्सृज्य तपःप्रयत्नाभिनिविष्टस्य दुराग्रहे वर्ण्यमाने यदुक्तं सर्वो जनः सुखभ्रष्टः प्रणष्टविभवः सदाचारं भजते, मदं त्यजति, वैराग्यमाश्रयति, सङ्गभङ्गेन विगलितोत्तुङ्गाभिमानं तपः कर्तुं वाञ्छति, प्रायो बाहुल्येन तापविगलितलोहपिण्डसदृशीं कर्मण्यतामायाति। अत्रोत्पूर्वंतया सोपसर्गस्य तुङ्गशब्दस्य स्वभावोन्नतिर्द्विगुणतामुपयाता दुर्मदाभिमानार्थौचित्यमुच्चैः करोति॥ न तु यथा कुमारदासस्य—

'अयि विजहीहि दृढोपगूहनं त्यज नवसंगम भीरु वल्लभम्।
अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः॥'

अत्राभिनवानङ्गसंगमगाढमालिङ्गननिश्चलाङ्गच्छन्नाङ्गनाप्रबोधने सख्या यदुक्तं वल्लभ मुञ्च प्रभातसंध्यायामरुणकिरणोद्गमो वर्तते,

---

घोष यात्रा के अवसर पर गंधर्व से बन्धन के कारण दुर्योधन का अभिमान भग्न हो गया था। वह अपने बढ़े-चढ़े राज्य को छोड़ कर तप करने को उद्यत हुआ। उस समय के उसके आग्रह का इसमें वर्णन है। वैभव के नष्ट हो जाने पर सुख भ्रष्ट व्यक्ति सदाचार का पालन, मद का त्याग, वैराग्य का समाश्रयण तथा साथ छूट जाने से उत्तुङ्ग अभिमान को गला देने वाला तप आदि सब कुछ करता है। ऐसी दशा में उसकी कर्मण्यता गले हुए लोहपिण्ड के समान तरल बन जाती है। यहाँ अभिमान को उत्तुंग कहने में जो 'उत्' उपसर्ग का प्रयोग हुआ है उससे तुङ्ग शब्द का स्वाभाविक अर्थ द्विगुणित ऊँचा हो गया और उसके फलस्वरूप मद और अभिमान की अभिव्यक्ति में एक प्रकार का औचित्य आ गया। कुमारदास के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं मिलता।

'हे नव संगम भीरु सुन्दरि, गाढ़ आलिंगन का त्याग कर। प्रियतम को छोड़। उषा की किरणों का उदय हो चुका है और मुर्गे बोल रहे हैं।

यहाँ पर नवीन अनंग समागम में गाढ़ आलिंगन से निश्चल अंग वाली किसी प्रच्छन्न युवति के सम्बोधन में सखी कह रही है। प्रिय को छोड़ दो। प्रभात में उषा की किरणें निकल आई हैं। मुर्गे आपस में बोल रहे हैं।

कुक्कुटाश्च सम्प्रवदन्तीति, तत्र संप्रोपसर्गशून्यशय्या (ब्दा) पूरण-मात्रेण निरर्थकत्वादनुचितमेव। निपातौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) उचितस्थानविन्यस्तैर्निपातैरर्थसंगतिः।
उपादेयैर्भवत्येव सचिवैरिव निश्चला ॥२५

(वृ०) उपादेयैश्चादिभिर्निपातैरुचितपदविनिवेशितैः काव्यस्यार्थं संगति रसंदिग्धा सत्सहायैरिव भवति। यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'सर्वे स्वर्गसुखार्थिनः क्रतुशतैः प्राज्यैर्यजन्ते जडा-
स्तेषां नाकपुरे प्रयाति विपुलः कालः क्षणार्धं च तत्
क्षीणे पुण्यधने स्थितिर्न तु यथा वेश्यागृहे कामिनां
तस्मान्मोक्षसुखं समाश्रयत भोः सत्यं च नित्यं च यत्'

उसमें 'बोल रहे हैं' के लिये 'सम्प्रवदन्ते' क्रिया का प्रयोग है जिसमें 'सम्' और 'प्र' दोनों उपसर्ग निरर्थक हैं। क्रिया का अर्थ केवल शब्दोच्चारण है।

उचित स्थानों पर नियुक्त किए गए सचिवों से जैसे राज्य व्यवस्था ठीक हो जाती है उसी प्रकार निपातों का उचित स्थान पर प्रयोग करने से काव्य की अर्थ संगति शोभनतर बन जाती है।

संस्कृत के 'च' आदि निपातों को उचित स्थान पर रख देने से काव्य की अर्थ संगति असंदिग्ध हो जाती है जैसे कवि की 'मुनिमत मीमांसा' के इस पद्यार्थ में —

'जड़ बुद्धि के सब लोग स्वर्ग सुख की कामना से सैकड़ों बड़े-बड़े यज्ञ करते हैं। उनका स्वर्ग में बहुत सा समय बीतता भी है। पर वह आधे क्षण के समान होता है। पुण्य धन के क्षीण हो जाने पर वहां वे नहीं ठहर सकते जैसे कामी लोग द्रव्य की समाप्ति पर वेश्या के घर नहीं रुक पाते। इसलिये मोक्ष सुख का सहारा लो। अरे वही सत्य है, वही नित्य है।

अत्र स्वर्गसुखस्य वेश्याभोगवदवसानविरसचपलतायां प्रतिपादितायां निश्चलमोक्षसुखस्य निःसंदेहनिश्चितः प्रतिपत्तिर्निपातपदोपबृंहिता वाक्यार्थौचित्यं जनयति ॥ न तु यथा श्रीचक्रस्य —

'देवा जानाति सर्वं यदपि च तदपि ब्रूमहे नीतिनिष्ठं
साधं सधाय जालान्तरधरणिभुजा निर्वृतो बान्धवेन ।
म्लेच्छानुच्छिन्धि भिन्धि प्रतिदिनमयशो रुन्धि विश्वं यशोभिः
सोदन्वन्मेखलायां परिकलय करं किं च विश्वंभरायाम् ॥

अत्र क्षितिपतिस्तुतिप्रस्तावे 'देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि' इति यदुक्तं तत्र पूर्वापरपदयोरसंबद्धत्वेन निरर्थक एव निरुपयोगश्चकारः प्रततोत्सवबहुजनभोजनपङ्क्तावपरिज्ञातः स्वयमिव मध्ये समुपविष्टः पश्चादभिव्यक्तः परं लज्जादुर्मनौचित्यं प्रतनोति ॥ कालौचित्यं दर्शयितुमाह—

इसमें स्वर्ग सुख को वेश्याभोग की भांति अवसान में निरस एवं चंचल बताकर मोक्ष-सुख को निःसन्देह एवं निश्चित रूप से स्थिर बताया गया है। यह ज्ञान 'भो' (अरे) निपात के प्रयोग से आता है, अतः निपात वाक्यार्थ में औचित्य उत्पन्न करता है। श्री चक्र कवि के इस पद्यार्थ में वैसी बात नहीं है।

'आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं फिर भी मैं नीति की बात कहता हूँ। जालान्तर के राजा से, जो आपका बान्धव है, सन्धि स्थापित कर निश्चिन्त हो जाइये। फिर म्लेच्छों का विनाश, अपने अयश का निवारण, विश्व भर में यश का विस्तार तथा समुद्र पर्यन्त फैली हुई पृथ्वी पर से कर प्राप्त कीजिये।'

यहाँ राजा की स्तुति का प्रसंग है। 'आप सब कुछ जानते हैं फिर भी' इस अर्थ के लिये कवि ने 'देवोजानाति सर्वं यदपि च तदपि' वाक्यांश प्रयुक्त किया है। इसमें 'यदपि च तदपि' के मध्य में आया हुआ 'और' अर्थ वाला 'च' निरर्थक है। एक से अधिक वस्तुओं के संयोग में 'च' सार्थक होता है। यहाँ पूर्व और अपर पद आपस में असंबद्ध हैं। यहाँ तो 'च' की स्थिति ऐसी है जैसे उत्सव की ज्योनार में अपरिचित अनिमंत्रित व्यक्ति प्रकट होने पर लज्जा और खेद का अनौचित्य दिखाता है।

(का०) कालौचित्येन यात्येव वाक्यमर्थेन चारुताम्।
जनावर्जनरम्येण वेषेणेव सतां वपुः ॥२६॥

(वृ०) कालकृतौचित्ययुक्तेन अर्थेन वाक्यं चारुतामेति वेषपरिग्रहेणेव कालयोग्येन सतामवसरज्ञानां वपुः ॥ यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'योऽभूद्गोपशिशुः पयोदधिशिरश्चौरः करीषंकष
स्तस्यैवाद्य 'जगत्पते खगपते शौरे मुरारे हरे।
श्रीवत्साङ्क' जडैरितिस्तुतिपदैः कर्णौ नृणां पूरितौ
ही कालस्य विपर्ययप्रणयिनी पाकक्रियाश्चर्यभूः ॥'

(अत्रामर्षविषविषमाविष्कारमुमूर्षुणा शिशुपालेनाभिधीयमाने यत्किल गोपालबालः पयोदधिशिरश्चौरः करीषंकषोऽभूत्त स्यैवाद्य

कालौचित्य—

काव्य में जब कालोचित अर्थ का संनिवेश होता है तो वह ऐसा सुन्दर लगता है जैसा अवसरोचित आकर्षक वेष से सत्पुरुषों का शरीर।

यदि अर्थ में काल का औचित्य रहे तो उससे वाक्य में ऐसा सौन्दर्य आ जाता है जैसा अवसर को पहचानने वाले सज्जनों के शरीर में समयोचित वेष से। जैसे ग्रन्थकार की मुनिमतमीमांसा के इस पद्यार्थ में :—

'जो ग्वालों का छोकरा, दूध दही को सिर पर उठाने वाला, चोर और कंडियां चुराने वाला था, उसी को जड़ लोग आज जगत्पति, शौरि, मुरारि, हरि, श्री वत्सांक आदि-आदि नामों से स्तुति कर कानों को भरे डाल रहे हैं।' उलटफेर कर डालने वाली काल की पाक क्रिया कितनी आश्चर्य जनक है?

अमर्ष के विषम विष को प्रकट कर मरने वाला शिशुपाल यह कह रहा है कि जो ग्वालों का छोकरा, दूध-दही को सिर पर रखने वाला, चोर, कण्डे बीनने वाला था उसी के 'जगन्नाथ आदि स्तुति पदों से आज लोगों के कान भर डाले। काल की उलट पलट करने वाली पाक क्रिया कैसी आश्चर्य जनक

जगन्नाथादिभिः स्तुतिपदैर्नृणां कर्णौ पूरितौ ही बत कालस्य विपर्ययकारिणी पाकक्रियाश्चर्यभूमिरिति)। तत्राभूदितिभूतकालेनाश्चर्यं परिपोषरुचिरमारब्धाधिक्षेपपक्षणं वाक्यौचित्यं कृतम् ॥ यथा वा मालवकुवलयस्य—

'च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमैरलसा द्रुमा
मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥'

अत्र शिशुतरवसन्त कान्तोपवन नवरसोल्लास सूच्यमानमनसिजोत्कण्ठावर्णनायामृतुसंधिसमुचिताः कुन्दाः कुसुमावसानशून्यतनवः, किंशुकाशोकाः कलिकोद्गमभरालसाः, मनसि कोकिलाः कलकूजितान्यनुसंदधति, रवेर्मरीचयः शीतोल्लासमथ च निवारयन्ति न च संतापदायिनीं प्रौढ़तामालम्बन्ते, इत्युक्ते वर्तमान कालपदेष्वेव हृदय संवादसुन्दरमौचित्यं किमप्यामोदते ॥ यथा वा भट्टभल्लटस्य—

है। यहां अभूत् (था) भूतकाल की क्रिया से आश्चर्य का परिपोष होता है और निन्दा का जो अर्थ वाक्य में हैं उनका औचित्य सिद्ध होता है। कवि मालव कुवलय के नीचे लिखे पद्यार्थ में भी वैसा औचित्य है।

'कुन्दों के पुष्प गिर रहे हैं। वृक्ष पुष्पोद्गम के मारे अलसा रहे हैं। कोयलें स्वर को मन में ही रखती हैं बाहर नहीं फैलाती। सूर्य की किरणें शीत के बढ़ावे का छेदन तो करती हैं पर संताप देने वाली प्रौढ़ता अभी उनमें नहीं आ पायी।'

बसन्त प्रारम्भ ही हुआ है। उसमें सुन्दर उपवन और नवीन रसों के उल्लास से कामजन्य उत्कण्ठा की सूचना होती है। इस ऋतु सन्धि के उचित ही पुष्पों के अवसान के कारण सूने शरीर के कुन्दवृक्ष है। कलियों के भार से अलसाए किंशुक और अशोक हैं। कोयलें सुन्दर कूजन मन में रख रही हैं; सूर्य की किरणें शीत की वृद्धि दूर करती हैं, संताप कारक प्रौढ़ता नहीं ग्रहण करतीं—ऐसा कहकर वर्तमान काल के ही पदों में रमणीयता का एक औचित्य प्रकट होता है। अथवा भट्ट भल्लट के इस पद्यार्थ में:—

'मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं मूर्च्छद्विषाश्चेषवः'
शिक्षा सा विजितार्जुना प्रतिलयं सर्वाङ्गलग्ना गतिः ।
अन्तः क्रौर्यमहो शठस्य मधुनो हा हारि गीतं मुखे,
व्याधस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम् ॥

अत्र लुब्धकस्य धनुः सायक शिक्षागतिक्रौर्यगीतानि तथा यथा वनं निर्मृगं भविष्यतीति भविष्यत्कालः प्रकृतार्थपरिपोषेण हृदय-संवादौचित्यमादधाति ॥ न तु यथा वराहमिहिरस्य—

'क्षीणश्चन्द्रो विशति तरणेर्मण्डलं मासि मासि,
लब्ध्वा कांचित्पुनरपि कलां दूरदूरानुवर्ती ।
संपूर्णश्चेत्कथमपि तदा स्पर्धयोदेति भानो-
र्नो दौर्जन्याद्विरमति जडो नापि दैन्याद्व्यरंसीत् ॥'

'इस व्याध का धनुष मृत्यु के मुख के समान विस्तृत है। बाणों का विष भी बढ़ा-चढ़ा है। शिक्षा ने अर्जुन को भी परास्त कर दिया है। सब अंगों में लय के अनुसार गति है। पर इस मधु नामक शठ की आंतरिक क्रूरता कैसी है कि इसके मुख में आकर्षक गीत है। प्रतीत होता है कि वन ही अब मृगशून्य हो जाएगा।

'व्याध के धनुष, बाण, शिक्षा, गतिक्रूरता, गीत ऐसे हैं कि वन मृगशून्य हो जाएगा' यहाँ भविष्यत् काल का प्रयोग प्रकृत अर्थ को पुष्ट कर हृदय रमणीय औचित्य देता है। वाराहमिहिर के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं रहा।

'मास मास में चन्द्रमा क्षीण होकर सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होता है। किसी एक कला को लेकर फिर दूर दूर हो जाता है। जब किसी प्रकार सम्पूर्ण होता जाता है तो सूर्य की स्पर्धा करता हुआ उदित होता है। न वह कभी कुटिलता बन्द करता है और न कभी दीनता को उसने छोड़ा।'

अत्र रवेर्मण्डलं क्षीणः शशी प्रतिमासं प्रविशति ततः काचिदाप्यायिकां कलां प्राप्य दूरे दूरे भवति। परिपूर्णश्च तस्यैव स्पर्धयाभ्युदेति दौर्जन्यान्न विरमति न च दैन्याद्व्यरंसीदित्येतौ 'विरमति' 'व्यरसीत्' इतिपरस्परासंगतं कालपदद्वयं चन्द्रस्य सहशयो दौर्जन्यदैन्ययोः सर्वकालमभिनिवृं तथोर्यदुक्त्यस्तं तत्र व्यरंसीदिति विरुद्धार्थत्वादनुचितमेव ॥ देशौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) देशौचित्येन काव्यार्थः ससंवादेन शोभते।
पर परिचयाशसी व्यवहारः सतामिव ॥२७॥

देशविषयौचित्येन हृदयसंवादिना काव्यार्थः सतां व्यवहार इव परिचयसूचकः शोभते ॥ यथा भट्टभवभूतेः—

'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यास यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।

यहाँ प्रतिपाद्य यह है कि चन्दमा क्षीण होकर प्रत्येक मास में सूर्य मण्डल की शरण लेता है और प्राणदात्री किसी एक कला को लेकर दूर हो जाता है। जब किसी न किसी तरह पूरा हो जाता है तो सूर्य से ही स्पर्धा करता हुआ सामने निकलता है। इसमें कुटिलता और दीनता चन्द्रमा के दो धर्म सनातन हैं। उनके लिए परस्पर विरुद्ध वर्नमान की 'विरमति' (बन्द करता है) तथा भूतकाल की 'व्यरंसीत' (छोड़ा) क्रियाओं का प्रयोग विरुद्धार्थ होने से अनुचित है।

देशौचित्य—

देशौचित्य भी बड़ा हृदय संवादी होता है। इससे काव्यार्थ इस प्रकार शोभा पाता है जैसे परिचय बढ़ाने वाला सज्जनों का व्यवहार।

देश का औचित्य हृदय को प्रिय लगता है । उससे काव्यार्थ शोभा पाता है जैसे परिचय सूचक सज्जनों का व्यवहार । उदाहरण भवभूति का यह पद्यार्थ है :--

'जहाँ पहले नदियों की धार बहा करती थी अब वहाँ पुलिन बन गया है। वृक्ष जहाँ घने थे वहाँ कम हो गये हैं, जहाँ कम थे वहाँ घने हो गए हैं। बहुत

बहोर्दृष्ट कालादपरमिव मन्ये वर्नामदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥'

अत्र बहुभिर्वर्षसहस्रैरतिक्रान्तैः शम्बुकवधप्रसङ्गेन दण्डकारण्यं रामः पूर्वपरिचितं पुनः प्रविष्टः समन्तात् अवलोक्यैवं ब्रूते:—'पुरा यत्र नदीनां प्रवाहस्तमेदानीं तटम्, वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्ययश्चिराद्दृष्टं वर्नामदमपूर्वमिव मन्ये, पर्वतसंनिवेशस्तु तदेततदिति बुद्धिं स्थिरीकरोति ।' इत्युक्ते चिरकालविपर्ययपरिवृत्त संस्थानकानन वर्णनया हृदयसंवादी देशस्वभावः परम मौचित्यमुद्योतयति ॥ न तु यथा राजशेखरस्य--

'कर्णाटीदशनाङ्कितः शितमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः,
प्रौढ़ान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभग वित्रासितः ।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः
सोऽयं संप्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति ॥'

समय के बाद देखने पर वन और और सा लगता है । हाँ, पर्वतों का यथा स्थान संनिवेश यह निश्चय कराता है कि यह सब वही है ।'

बहुत से हजारों वर्ष वीत जाने पर राम शम्बूक के वध के प्रसंग से पूर्व परिचित दण्डक बन में आये हैं । चारों ओर वे बन को देखकर कह रहे हैं कि जहाँ पहले नदियों का प्रवाह था अब वहाँ तट बन गया है, वृक्षों की घनता एवं विरलता बदल गई है । इससे बहुत दिन के बाद देखा हुआ वन कुछ दूसरा सा लगता हैं । पर्वत ही इस बुद्धि को स्थिर करते हैं कि यह सब वही है । यहाँ चिरकाल की उलटफेर के कारण परिवर्तित हुए कानन का वर्णन है । इससे हृदय संवादी देशस्वभाव के कारण बड़े औचित्य का द्योतन हुआ है । राजशेखर के नीचे लिखे पद्यार्थ में उक्त गुण नहीं पाया जाता ।

' जो राजेखर कवि कर्णाटकी के दशनों से अंकित हुआ है; महाराष्ट्री के तीक्ष्ण कटाक्षों से आहत बना है; प्रौढ़ आन्ध्री के स्तनों का जिसने पीढन प्राप्त किया है; प्रणयिनी के भ्रूभंगों से भी भीत बना रहा है; जो सौराष्ट्र की तरुणियों के बाहुपाश में आबद्ध रहा है तथा मलयालम की सुन्दरियों ने जिसे तर्जनी से झिड़का है वही अब बनारस जाने की कामना करता है ।'

अत्र कर्णाटमहाराष्ट्रान्ध्रलाटमलयललनासंभोगसुभगः कालेन गलितरागमोहः संप्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं गन्तुमिच्छतीत्युक्ते शृङ्गाररसतरङ्गितवराङ्गनाप्रसङ्गेऽनर्गलदक्षिणापददेशोद्देशमध्ये प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासित इति देशोपलक्षणविरहितं केवलप्रणयिनीपदेन देशौचित्यमुपचितमप्यनुचिततां नीतम् ॥ कुलौचित्यं दर्शयितुमाह -

(का०) कुलोपचितमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम् ।
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम् ॥

(वृ० पुरुषस्येव काव्यस्य कुलोन्नतमौचित्यं सविशेषोत्कर्षजनकं प्रायेण बाहुल्येन सहृदयानाम् अभिमतम् ॥ यथा कालिदासस्य –

'अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुद दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।

निरर्गल भोगों के अनन्तर आने वाले शान्त भाव का कवि ने अपने पर घटाकर यहाँ वर्णन किया है । कर्नाटक आदि देशों के इन्द्रिय-सुख का भोग कर लेने के बाद जब कवि राजशेखर का रागमोह गलित हो गया तो वह बनारस जाना चाहता है । इसमें शृंगार रस में झूमने वाली अंगनाओं के प्रसंग से मुक्तभोग प्रधान दक्षिणापथ का नामनिर्देश पूर्वक वर्णन करते हुए एक स्थान पर केवल 'प्रणयिनी के भ्रूभंगों से वित्रासित' कहना और उसमें किसी देश विशेष का नामोल्लेख न करना विद्यमान देशौचित्य को अनुचित बना देता है ।

कुलौचित्य—

सहृदयों के लिये पुरुषों के समान काव्य का भी कुलोपचित औचित्य विशेष उत्कर्ष का कारण बनता है ।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति का वंशपरम्परा का उन्नत औचित्य सहृदयों को प्रिय लगता है उसी प्रकार काव्य का भी । कालिदास के निम्नलिखित पद्यार्थ में इसका दृष्टान्त विद्यमान है ।

'अब वह विषयों से निवृत्त हो गया । अब राजाओं में श्रेष्ठ अपने श्वेत

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
　　गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥'

अत्र अथ स राजा वृद्धस्तरुणाय सूनवे राज्यं प्रतिपाद्य तया देव्या सह तपोवन भेजे। विरक्तचेतसामिक्ष्वाकूणामन्ते हि कुलव्रतमिदमेव' इत्युक्ते भूतवर्त्तमानभाविनां तद्वंश्यानामौचित्यमुन्मीलितम् ॥ न तु यथा यशोवर्मदेवस्य—

'उत्पत्तिर्भण्डकुले यदभीष्टं तत्पदं समाक्रान्तम् ।
भोगास्तथापि दैवात्सकृदपि भोक्तुं न लभ्यन्ते ॥'

अत्र ममोत्पत्तिर्भण्डकुले समीहितपदाक्रमण च निष्पन्नं तथापि दैवार्पितप्रियाविप्रयोगाद्भोगा भोक्तुं न लभ्यन्त इत्यभिहिते स्वसंवेद्यमेव भण्डकुलमन्यत्राप्रसिद्धं स्वयमेव निर्दिश्यमानमुत्कर्षविशेषणविरहित केवलपदोपादानेन निरर्थकतया निरौचित्यमेव । इक्ष्वाकुकुलस्य तु

राजक्षत्र को विधि पूर्वक अपने पुत्र को देकर उसने पत्नी सहित मुनिवनों के तरुओं की छाया का आश्रयण किया। बुढ़ापे में इक्ष्वाकुओं का यही कुलव्रत होता है।'

यहाँ बताया है कि इसके बाद राजा दिलीप ने वृद्ध होकर अपना राज्य पुत्र रघु को सौंप दिया और आप सपत्नीक तपोवन को चला गया। इक्ष्वाकु वंश के लोग अंत में विरक्त होकर इसी कुलव्रत का पालन करते हैं। ऐसा कहने से एक वंश के भूत, भावी और वर्तमान सभी कालों के राजाओं के आचार के औचित्य का पता चलता है। कवि यशोवर्मदेव के इस पद्यार्थ में यह बात नहीं है।

'मेरी भण्डकुल में उत्पत्ति हुई। जो पद अभीष्ट था वह भी मिल गया। फिर भी भाग्य से एक बार भी भोग भोगने को नहीं मिले।'

किसी राजा का समृद्धिकाल में पत्नी से वियोग हो गया। वह अनुताप में कहता है कि भण्डकुल में जन्म, अभीप्सित पद की प्राप्ति आदि तो सब मिल गए पर भोग फिर भी न भोगे जा सके। दैवयोग ! इस उक्ति में यह अनौचित्य है कि भण्डकुल काव्यादिकों में प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ पर बिना किसी

निर्विशेषणत्वमुपपद्यत एव । त्रिभुवनप्रसिद्धौचित्यचरित्रत्वात् ॥
व्रतौचित्यं दर्शयितुमाह —

(का०) काव्यार्थः साधुवादार्हः सद्व्रतौचित्यगौरवात्
संतोषनिर्भरं भक्त्या करोति जनमानसम् ॥२९॥

काव्यार्थः समुचितव्रतगौरवात् साधुवादयोग्यः संतोषपूर्णं जनमनः करोति । भक्तिर्विच्छित्तिः ॥ यथा मम मुक्तावलीकाव्ये—

'अत्र वल्कलजुषः पलाशिनः पुष्परेणुभरभस्मभूषिताः
लोलभृङ्गवलयाक्षमालिकास्तापसा इव विभान्ति पादपाः ॥

अत्र तपोधनोचितव्रतव्यञ्जकवल्कलभस्माक्षसूत्रप्रणयिपादपवर्णनायामचेतनानामपि शमसमयविमलचित्तवृत्तिरौचित्यमुपजनयति ॥
न तु यथा दीपकस्य —

उत्कर्ष वाचक विशेषण के केवल नाम मात्र से उसका उल्लेख किया गया है। पहले पद्य में इक्ष्वाकु कुल का भी वैसा ही उल्लेख है पर वह इस कारण उचित है कि उक्त वंश त्रिभुवन प्रसिद्ध है। अतः वहाँ औचित्य है।

व्रतौचित्य—

अच्छे-अच्छे व्रतों के औचित्य के गौरव से काव्यार्थ प्रशंसनीय बन जाता है। इससे सहृदयों के मन में इस विच्छित्ति के कारण बड़े संतोष की सृष्टि होती है। भक्ति का अर्थ है विच्छित्ति।

जैसे ग्रन्थकार के 'मुक्तावली' काव्य के इस पद्यार्थ में:—

'यहाँ पर ढाक के वृक्ष वल्कल धारण करते हुए, पुष्पों की रेणु रूपी भस्म से भूषित बनकर चंचल भौंरों के वलय की अक्षमाला लेते हैं तो तपस्वी जैसे लगते हैं।'

इसमें तपोधनों के योग्य व्रत की व्यंजना करने वाली वस्तुओं का उल्लेख है जैसे वल्कल, भस्म तथा अक्षमाला का धारण करना। यहाँ अचेतनों में भी वैराग्य काल की विमल चित्तवृत्ति का वर्णन करना औचित्य की सृष्टि करता है। दीपक कवि के इस पद्यार्थ में उक्त गुण नहीं है।

'पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीकपाली-
मादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम् ।
द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणी सनाथः न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येयु दीनः ॥'

अत्र वैराग्यनिरर्गलवर्णनायां भिक्षाकपालीमादाय क्षुत्क्षामः— कुक्षिपूरणाय प्रवृत्तो मानी वरं द्वारं द्वारं यष्टिनिविष्टपाणिः परिभ्रान्तो न पुनरनिशं तुल्यकुल्येषु दीन इत्युक्ते सहजप्रशमविमल-मानसविश्रान्तिसंतोषमुत्सृज्य तुल्यकुल्यद्वेषविजिगीषापरमेववाक्यं भृश-मनौचित्यभुद्भावयति । वरमेतत्तीव्रव्रतकष्टं न तु स्वजनदैन्ययाचन-मिति संसारग्रन्थिबन्धाभिमानोपन्यासः ॥ तत्वौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात् ।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः ॥३०॥

'स्वाभिमानी प्राणवान व्यक्ति क्षुधार्त हो तो उदरपूर्ति के लिए हाथ में श्वेतवस्त्र से ढका भिक्षा पात्र लेकर किसी गाँव या पवित्र जंगल में, जिसके आस पास न्यायवेत्ता ब्राह्मणों की यज्ञाग्नि का धुआँ फैला हो, द्वार-द्वार पर घूम ले । यह अच्छा । पर समान कुल वालों में प्रतिदिन दीन बनकर घूमना अच्छा नहीं ।'

इसमें वैराग्य के निर्मुक्त रूप का वर्णन अभिप्रेत है पर 'क्षुधार्त हो तो उदरपूर्ति के लिए भिक्षा-पात्र लेकर द्वार द्वार घूम ले । यह अच्छा । पर समान कुल वालों में प्रतिदिन दीन बनकर घूमना अच्छा नहीं ।' ऐसा कहने से सहज शान्ति से निर्मल बने चित्त की विश्रान्ति और संतोष का त्याग कर तुल्य कुल वालों के द्वेष को जीतने की इच्छा अधिक व्यक्त होती है । यह अनुचित है ।

तत्वौचित्य –

यदि कवि अपनी रचना में किसी मार्मिक सत्य का उचित अभिधान कर उसके प्रति सहृदयों का बोध निश्चित बना देता है तो वह कृति हृदय संवादी एवं ग्राह्य हो जाती है ।

(वृ० तत्वोचिताख्यानेन कवेः सूक्तं सत्यप्रत्ययस्थैर्यात्संवादि गृह्यतां याति ।) यथा मम बौद्धावदानलतिकायाम्—

'दिवि भुवि फणिलोके शैशवे यौवने वा
जरसि निधनकाले गर्भशय्याश्रये वा ।
सहगमनसहिष्णोः सर्वथा देहभाजां
नहि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य ॥

अत्र प्राक्तनस्य कर्मणस्त्रैलोक्ये शैशवयौवनवृद्धत्वावस्थासु देहिनां सह गमने समर्थत्वान्न विनाशोऽस्तीत्युक्ते निःसंशयसकलजनहृदयसंवादितत्त्वाख्यानमौचित्यं ख्यापयति ।) न तु यथा माघस्य—

'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः ।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला कलाः' ॥

तत्वोचित कथन से कवि की उक्ति इसलिए ग्राह्य बन जाती है कि उसमें सत्य के प्रति विश्वास स्थिर होता है। उदाहरण के लिए ग्रन्थकार की 'बौद्धावदानलतिका' का निम्नलिखित पद्यार्थ लीजिए।

'स्वर्ग हो, पृथ्वी हो या पाताल। शैशव हो या यौवन, बुढ़ापा हो, मृत्यु काल हो या गर्भशय्या का आश्रयण, प्राणियों के सदा साथ रहने वाले प्राक्तन कर्म का विनाश कभी नहीं होता।'

इस उक्ति में बताया गया है कि कर्म प्राणियों के सदा साथ रहता है चाहे शैशव हो, यौवन हो या बार्धक्य। उसका कभी विनाश नहीं होता। वाक्य में प्राणी मात्र के लिए हृदय संवादी सत्य का आख्यान हुआ है और उससे औचित्य की स्थापना होती है। माघ के इस पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं रहा।

'भूखे व्याकरण नहीं खा लेते, प्यासे भी काव्य रस नहीं पीते। विद्या के द्वारा किसी ने अपने वंश का उद्धार नहीं किया। सुवर्ण कमाओ कलायें निष्फल हैं।

अत्रार्यार्थार्थितापरत्वेन धनमेवार्जय, क्षुधितैर्व्याकरणं न भुज्यते, न च काव्यरसः पिपासितैः पीयते, न च विद्यया कुलं केनचिदुद्धृत-मित्युक्ते सर्वमेतत् दारिद्र्यदैन्यविद्रुतधैर्यकातरतया तत्त्वविरहितं विपरीतमुपन्यस्तमनौचित्यं सुयुक्तमेव। विद्यानामेव सर्वसम्पत् प्रसवि-नीनां कुलोद्धरणाक्षमत्वं नान्यस्य ।। सत्त्वौचित्यं दर्शयितुमाह —

(का०) चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वोचितं कवेः।
विचाररुचिरोदारचरितं सुमतेरिव ।।३१।।

(वृ०) सत्त्वोचितं कवेर्वचश्चमत्कारं करोति । सुमतेरिव विचार्यमाणं रुचिरमुदारचरितम् ।। यथा मम चित्रभारते नाटके —

'नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलापूरिततनुः
स्फुरत्स्फीतज्वालानिविडवडवाग्निक्षतजलः ।

'आर्या का तात्पर्य अर्थ परायणता है । अतः धन ही कमाना चाहिये । कलाएं निष्फल हैं । भूखे व्याकरण शास्त्र को खाकर तथा प्यासे काव्य रस का पान कर तृप्त नहीं हो जाते । विद्या से भी किसी के कुल का उद्धार नहीं होता' यह सब दरिद्रता, दीनता से धैर्य के नष्ट हो जाने और कातर हो जाने के कारण तत्व शून्य हैं अतः विपरीत कहा गया है । विद्या ही तो सब प्रकार की सम्पति का हेतु है । वह भी यदि वंश के उद्धार में समर्थ नहीं तो फिर अन्य कौनसी वस्तु होगी ?

सत्त्वौचित्य —

कवि का सत्त्वोचित वचन चमत्कार की सृष्टि करता है जैसे बुद्धिमान व्यक्ति का विचार के साथ किया गया उदार चरित । सत्त्व का अर्थ है मनोबल ।

सत्व से उचित बना कवि का वचन चमत्कार का द्योतन करता है जैसे बुद्धिमान का विचार पूर्वक उदार चरित । ग्रन्थकार के 'चित्र भारत' नाटक का निम्नलिखित पद्यार्थ इसका उदाहरण है ।

'समुद्र का शरीर अनेक नदियों के उद्दाम प्रवाह वाले जल से आपूरित रहता है तथा बढ़ी हुई ज्वालाओं की वडवाग्नि से क्षत भी । पर इससे

न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति वहुसत्त्वः पतिरपा-
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम् ॥'

अत्र पयोधिव्यपदेशेन युधिष्ठिरस्य सत्त्वोत्कर्षेऽभिधीयमाने सरित्पूरप्रवर्धिततनुर्वडवाग्निनिष्पीतश्च नोत्सेकं न सकोचम् अब्धिर्विपुलसत्त्वः स्पृशति । न ह्यवस्थानां भेदान्महाशयानां विकारो भवतीत्युक्ते गम्भीरधीरा सत्त्ववृत्तिरौचित्यमातनोति न तु यथा भट्टेन्दुराजस्य—

'आश्चर्यं वडवानलः स भगवानाश्चर्यमम्भोनिधि—
र्यत्कर्मातिशयं विचिन्त्य मनसः कम्पः समुत्पद्यते ।
एकस्याशयघस्मरस्य पिवतस्तृप्तिर्न जाता जलै-
रन्यस्यापि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जातःश्रमः ॥'

अत्र वडवानलसमुद्रयोः सत्वमहत्त्वे वक्ष्यमाणे नातिविपुलाशयत्वादेकस्य पिवतः पयोभिस्तृप्तिन जाता, द्वितीयस्य तदुपजीव्यमानस्य न मनागपि खेदः, तदेतदुभयमाश्चर्यमित्युक्ते निःसंतोषतया सततया

जलों के उस स्वामी के विशाल सत्व को न तो दर्प का स्पर्श होता है न दैन्य का । महान पुरुषों में अवस्था भेद से विकार नहीं आता ।

यहां समुद्र के व्यपदेश से युधिष्ठिर के सत्त्वोत्कर्ष का वर्णन है कि 'नदियों का जलपूर महासत्त्व समुद्र को गर्व देने में तथा बडवाग्नि का शोषण संकोच देने में असमर्थ रहते हैं । अवस्थाओं के भेद से महाशयों में विकार नहीं आता' । इससे युधिष्ठिर की गंभीर धीर सत्त्ववृत्ति औचित्य व्यक्त करती है । भट्टेन्दुराज का निम्नलिखित पद्यार्थ इस गुण से रहित हैं ।

'वह भगवान बडवानल आश्चर्य की वस्तु है और वैसी ही आश्चर्य की वस्तु समुद्र है । इनके कर्मातिशय का चिन्तन करते मन में कंप हो उठता है । एक अपने आश्रय को ही खा जाता है फिर भी जल से उसकी तृप्ति नहीं होती । दूसरा भी इतना महात्मा कि उसके शरीर में इससे थोड़ा सा भी श्रम नहीं होता ।'

इसमें बडवानल का सत्व तथा समुद्र का महत्व कथनीय हैं । इनमें से एक क्षुद्र होने के कारण जलपान से कभी तृप्त नहीं होता । दूसरा उसे आश्रय देकर भी कभी खिन्न नहीं रहता । यह दोनों आश्चर्य हैं । पर अग्नि

च कस्य न वडवाग्नेर्लज्जा। न च जलनिधेराश्रितं कार्थिपूरणसामर्थ्यं-मित्यसत्त्वे सत्वस्तुतिरनौचित्यमावहति ॥ अभिप्रायौचित्यं दर्शयितु-माह—

(का०) अकदर्थनया सूक्तमभिप्रायसमर्पकम्।
चित्तमावर्जयत्येव सतां स्वस्थमिवार्जवम् ॥३२॥

(वृ०) अक्लेशेनाभिप्रायसमर्पकं काव्यं हृदयमावर्जयति। सज्जनानां निर्मलमार्जवमिव॥ यथा दीपकस्य—

'श्येनाङ्घ्रिग्रहदारितोत्तरकरो ज्याङ्कप्रकोष्ठान्तर
आताम्राधरपाणिपादनयनप्रान्तः पृथूरःस्थलः।
मन्येऽयं द्विजमध्यगो नृपसुतः कोऽप्यम्ब निःशम्वलः
पुत्र्येवं यदि कोष्ठमेतु सुकृतैः प्राप्तो विशेषातिथिः

जैसा संतोषहीन सतत भक्षी है उससे तो सबको लज्जा ही होगी। समुद्र का भी क्या सत्त्व कि वह अपने एक आश्रित याचक की याचना भी न पूरी कर सका। इस प्रकार यहाँ दोनों के सत्त्व की स्तुति उचित रूप से नहीं हुई।

अभिप्रायौचित्य—

'कवि का वाक्य जब बिना किसी क्लेश के अभिप्राय समर्पण करता है तो वह सत्पुरुषों के निर्मल आर्जव के समान चित्त का आकर्षक बन जाता है'।

वाक्य क्लिष्ट न हो तो उसका अभिप्राय सरलता से अवगत हो जाता है। ऐसा वाक्य सज्जनों की निर्दोष ऋजुता के समान हृदय को आकृष्ट करता है। जैसे दीपक कवि का निम्नलिखित पद्यार्थ:—

'हे माँ, ब्राह्मणों में यह कोई आश्रयहीन क्षत्रिय राजपुत्र है। इसके पंजे के ऊपरी-भाग में बाज के पैर पकड़े रहने से खरोंच आ गया है। पहुँचे पर धनुष की डोरी का चिन्ह है। अधर, हाथ, पैर और नयन प्रान्त लाल हैं। वक्षस्थल स्थूल है। पुत्रि, यदि ऐसा है तो यह कोठे में भीतर चला आए। विशेष अतिथि पुण्य से प्राप्त होता है।

अत्र स्वैररमणी रमणीयं दिनावसाने युवानं पथिकमालोक्या-भिप्रायसूचकं जननीमेवं ब्रूते। 'यदसौ राजपुत्राकृतिः श्येनग्रहनाराच-परिचयोचितः सायं समये प्राप्त इत्युक्ते' मात्राप्यभिप्रायपूरकमभिहितम्। पुत्रि, यद्येवं तत्कोष्ठाङ्कं प्रविशतु सुकृतैर्विशेषोऽतिथिः प्राप्तः पूज्य इत्येतेन स्फुटाभिप्रायसूचकमौचित्यमुपचितमाचकास्ति ॥ न तु यथा स्यैव—

'अयि विरहविचित्ते भर्तुरर्थे तथार्ता
सपदि निपतिता त्वं पादयोश्चण्डिकायाः।
स्वयमुपहितधूपस्थालकच्छत्रशृङ्गो-
द्दलितमपि ललाटं येन नैवाललक्षे ॥'

अत्र विनयवत्याः सुचिरात्पत्यावागते ललाटनखोल्लेखापह्नववचने सख्या समुपदिश्यमाने हे बिरहोन्मत्ते भर्तुरर्थे चण्डिकापादपतने स्वय

इसमें कोई स्वैरिणी सायंकाल किसी युवा राजपुत्र पथिक को देखकर माँ से अपना अभिप्राय सूचित करती है। 'यह राजपुत्र की आकृति का युवा बाज को पकड़ने, धनुष आदि चलाने से परिचित है। सायंकाल को आया है'। माँ ने भी उसके अभिप्राय को पूरा करने के लिए अतिथि को घर में प्रविष्ट कर लेने की बात कहदी। 'पुत्रि, यदि ऐसा है तो यह भीतर प्रकोष्ठ में चला जाए। पुण्यों से अच्छा अतिथि मिलता है' इससे अभिप्राय की स्पष्ट अवगति यहाँ होती है। यह औचित्य है। इसी कवि के नीचे दिये पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं है:—

'अरी विरह भ्रान्ते, तू तो पति के लिए इतनी आर्त बन गई कि देवी के चरणों में एक दम गिर पड़ी। पूजा का थाल स्वयं तूने पास में रखा था। फिर भी उसके किनारों से फटते हुए अपने मस्तक को भी नहीं देखा।'

किसी बिनीत तरुणी का पति देर के बाद घर लौटा है। पत्नी के मस्तक पर स्वच्छन्द बिहार के नख चिन्ह बने हुए हैं। सखी उन्हें छिपाने का उपदेश देती हुई कहती है कि तू पति के विरह में इतनी उन्मत्त हो गई कि उनके

स्थापितधूपस्थालकोटिक्षतमपि न लक्षितं भवत्या ललाटमित्युक्तौ स्वैरापह्नवशिक्षामात्रमेवोपलक्ष्यते । न तु तस्याः सख्या वा कश्चिदभिप्रायविशेषः ।। स्वभावौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीनां चारुभूषणम् ।
　　अकृत्रिममसामान्यं लावण्यमिव योषिताम् ।।३३।।

स्वभावोचितत्वं कविवाचामाभरणमाभाति । अकृत्रिममनन्यसामान्यं लावण्यमिव ललनानाम् ।। यथा मम मुनिमतमीमांसायाम् —

'कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत्तोयकणासङ्गिना
　　हारेणेव वृतस्तनी पुलकिता शीतेन सीत्कारिणी ।
निर्धौताञ्जनशोणकोणनयना स्नानावसानेऽङ्गना
　　प्रस्यन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य स्पृहार्द्रं मनः ।।'

आगमन की प्रार्थना करते समय चण्डी के पैरों में एक दम गिर पड़ी और अपने आप पास में रखे हुए पूजा थाल के किनारों से जब मस्तक फट गया तो उसे देख भी न सकी । इस उक्ति में स्वच्छन्द विहार के छिपाने की शिक्षामात्र प्रतीत होती है । सखी या तरुणी का कोई अभिप्राय विशेष नहीं ।

स्वभावौचित्य—

स्वभाव का औचित्य काव्योक्तियों का भूषण है, उसी प्रकार जैसे युवतियों का अकृत्रिम विशेष लावण्य ।

स्वभावोचित वर्णन कवि की वाणियों आभूषण जैसा शोभा पाता है । जैसे ललनाओं का स्वाभाविक लावण्य ।

ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का निम्नलिखित पद्यार्थ उदाहरण हैं:—

'सद्यः स्नात युवती, जिसके स्तन हार के समान कान से ऊपर फैलाये केशपास से टपकते हुए जल बिन्दुओं द्वारा ढक जाते हैं, जो शीत से रोमांचित हो, 'सी-सी' करती है, काजल धुलने से जिसकी आँखों के कोंए लाल पड़ जाते हैं तथा जिसके केशपाश से जल टपकता है' वह किसके मन को लालसा से आर्द्र न बना देगी ?'

अत्र व्याससूनोः शुकस्य गाढवैराग्यनिःसङ्गस्य गगनगंगातीरे स्नानोत्तीर्णास्त्रिदशयोषितो विवसनास्तद्दर्शननिःसंकोचाः पश्यतः प्रसमविमलमनसः स्मरव्यतिकरनिर्विकारतायां प्रतिपाद्यमानायां कर्णमूलोत्क्षिप्तालकपर्यन्तनिपतत्तोयकण संतानेन स्तनयोः कृतमुहूर्तहारविभ्रमा, शीतेन रोमाञ्चसीत्कारिणी, धौताञ्जनारुणनयनान्ता, प्रस्नवन्मुक्तकेशकलापा, स्नानोत्तीर्णा तरुणी कस्य स्पृहार्द्रं न मनः करोतीत्युक्ते स्वयमार्द्रस्वभावः परमप्यार्द्रीकरोतीत्युचितमेतत् ॥ न तु यथा मम तत्रैव—

'भक्ति कातरतां क्षमा सभयतां पूज्यस्तुतिर्दीनतां
धैर्यं दारुणतां मतिः कुटिलतां विद्याबलं क्षोभताम् ।
ध्यानं वञ्चकतां तपः कुहकतां शीलव्रतं षण्ढतां
पैशुन्यव्रतिनां गिरां किमिव वा नायाति दोषार्द्रताम् ॥'

व्यास पुत्र श्री शुकदेव जी वैराग्य निःसंग होकर गगनगंगा के किनारे घूम रहे थे। उस समय उन्होंने स्नान को आई हुईं निःसंकोच भाव से बैठी नंगी अप्सराओं को देखा। उनका मन वैराग्य से विमल था। इसलिए किसी प्रकार का स्मरविक्षोभ नहीं हुआ। यह प्रतिपाद्य है। इसके लिए कहा गया है कि युवतियों के बालों की छोरों से गिरे जलबिन्दु उनके स्तनों पर हार सा बना रहे थे। शीत के कारण वे रोमाञ्च में 'सी-सी' करती थीं। आँखों का काजल धुलने से प्रन्ति भाग लाल पड़ गए थे, और केशपाश से जल टपक रहा था। ऐसी स्नानोत्तीर्ण युवतियाँ किसके मन को गीला न करेंगी। केशपाश स्वयं गीले हैं, दूसरे को भी गीला बनाते हैं। स्वभाव का चित्रण उचित है। ग्रन्थकार के ही दूसरे पद्यार्थ में यह तत्त्व नहीं।

'चुगलखोरों की वाणी के सभी गुण दोष हो जाते हैं। भक्ति कातरता बन जाती है, क्षमा डर और पूज्य की प्रशंसा दीनता। धैर्य दारुणता कहलाता है, मति कुटिलता तथा विद्याबल क्षोभ। वे ध्यान को वंचकता, तप को ठग विद्या और शील को नपुंसकता के रूप में देखते हैं।'

अत्र पिशुनस्वभावे वर्ण्यमाने भक्त्यादीनां गुणानां वैपरीत्ये प्रतिपादिते पिशुनानां वचसां किंवा दोषाद्रतां नायातीत्यभिहिते स्वयमनार्द्रस्वभावस्य परार्द्रीकरणमनुचितमेव ॥

सारसंग्रहौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) सारसंग्रह वाक्येन काव्यार्थः फलनिश्चितः ।
　　अदीर्घसूत्रव्यापार इव कस्य न संमतः ॥२४॥

(वृ०) सारसंग्रहवाक्येन काव्यार्थः सुनिश्चितफलः शीघ्रकारिण इव व्यापारः कस्य नाभिमतः ॥ यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'विविधगहनगर्भग्रन्थसंभारभारै—
　　र्मुनिभिर भिनिविष्टैस्तत्त्वमुक्तं न किंचित् ।
कृतरुचिरविचारं सारमेतन्महर्षे—
　　रहमिति भवभूमिर्नाहमित्येव मोक्षः ॥'

यहाँ वर्ण्य है पिशुन का स्वभाव । उसमें भक्ति आदि गुण भी विपरीत बन जाते हैं । इससे उनकी वाणी सभी दोषार्द्र हो जाती है । पर जो स्वयं आर्द्र नहीं है वह दूसरों के द्वारा भी आर्द्र नहीं हो सकता । फलतः यह उक्ति उचित नहीं ।

सार संग्रहौचित्य—

सार का संग्रह बताने वाले वाक्य से काव्यार्थ का फल निश्चित हो जाता है और वह शीघ्र समाप्त होने वाले कार्य की भाँति सभी को प्रिय लगता है ।

शीघ्रकारी व्यक्ति के कार्यों की भाँति सारसंग्रह की व्यंजना वाले काव्य से काव्यार्थ का फल निश्चित हो जाता है । वह सभी को प्रिय लगता है । जैसे ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' के निम्नलिखित पद्यार्थ में—

'कठिन कठिन अनेक ग्रन्थों के सार भार से लदे और उनमें फंसी बुद्धि वाले मुनियों ने कुछ तत्त्व नहीं बताया । महर्षि व्यास का तो विचार का सुन्दर सार यही है कि अहंभाव भव-बन्धन तथा उसका न होना ही मोक्ष है ।,

अत्र भगवद्गीतार्थविचारे सारसंग्रहोऽभिहितः, यत्किल मुनिभिरनेकभेदभिन्नशास्त्रजडैरभिनिविष्टमतिभिस्तत्त्वमुपादेयं न किंचित्कथितम् । भगवतो महर्षेर्व्यासस्य सुमतेर्विमलविचारोत्तीर्णं निश्चितमेतदेव यदहंकारः ससारमूलभूमिर्ममतापरित्याग एव मोक्ष इति तत्संक्षेपेण भवक्षयोपदेशः प्रकृतार्थस्य परममौचित्यं पुष्णाति । न तु यथा परिव्राजकस्य –

'तपो न तप्तं वयमेव तप्ता भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।
जरा न जीर्णा वयमेव जीर्णास्तृष्णा न याता वयमेव याताः ॥

अत्र वयमेव तप्ता भुक्ता जीर्णा याता इत्युक्तं निःसाराचारुत्वादपर्यवसितो वाक्यार्थः फलशून्यतया सारसंग्रहोचितं न किंचित्प्रतिपादयति ॥ प्रतिभौचित्यं दर्शयितुमाह –

यहाँ भगवद्गीता के सार अर्थ का विचार है । नसमें निष्कर्ष की बात यही है कि अनेक शास्त्रों के भेद-विभेदों में पड़कर जड़-बुद्धि वाले मुनियों ने कोई सार की बात नहीं कही । भगवान व्यास ने तो निर्मल विचारणा के बाद यही निश्चय किया कि अहंकार संसार बन्धन की तथा ममतापरित्याग मोक्ष की मूल भूमि है । अतः संक्षेप में भवबन्धन से छुटकारा पाने का महर्षि का उपदेश अत्यन्त सूक्ष्मता के औचित्य से यहाँ प्रकट हुआ है । परिव्राजक के इस पद्यार्थ में वैसा सार संग्रह नहीं है ।

'हमने तप नहीं किया उलटे तप्त हो गए । भोग नहीं भोगे उल्टे स्वयं भुक्त हो गए । जरा जीर्ण न हुई हम ही जीर्ण हो गए । तृष्णा न बीती हम ही बीत गए ।'

इस में 'हम ही तप्त, भुक्त, जीर्ण बने तथा बीते' ऐसा कहने से निःसारता एवं अचारुता का प्रतिपादन होता है पर वाक्यार्थ का किसी विशेष निर्णय में पर्यवसान नहीं होता अतः पद्यार्थ में कोई सार संग्रह का औचित्य नहीं है ।

(का०) प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः ।
निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम् ॥३५॥

(वृ०) प्रतिभालंकृतं कवेः काव्यमुचितं गुणवतः कुलमिव बिमलं लक्ष्म्या प्रकाशितं शोभते ॥ यथा मम लावण्यवत्याम्—

'अदय दशसि किं त्वं बिम्बुबुद्ध्याधरं मे
भव चपल निराशः पक्वजम्बूफलानाम् ।
इति दयितमवेत्य द्वारदेशाप्तमग्या
निगदति शुकमुच्चैः कान्तदन्तक्षतौष्ठी ॥'

अत्र कस्यापि द्वारदेशाप्तं प्रियं ज्ञात्वा अन्यकामुकदशनखण्डितौष्ठ्या संप्रति तदागमनानभिज्ञयेव शुकमुद्दिश्य यदुक्तं निर्दय, किं त्वं विम्बफललोभादधर मम विदारयसि । पक्वानां जम्बूफलानामिदानीं

प्रतिभौचित्य—

प्रतिभा का औचित्य कवि की कलाकृति का आभरण है जैसे श्रेष्ठ गुण वाले व्यक्ति के कुल का भूषण वैभव होता है ।

प्रतिभा का उचित पुट काव्योक्तियों को अलंकृत करता है । श्री भी उज्वल वंश का भूषण बनती है । जैसे ग्रन्थकार की 'लावण्यवती' रचना का यह पद्यार्थ :—

'अरे निर्दय, तू बिंब समझ कर मेरे अधर को क्यों काटता है ? जा चपल तू पकी हुई जामुनों की आशा मत कर ।' इस प्रकार पति को द्वार पर आया हुआ जान कर प्रियतम के दांतों से क्षत हुए ओष्ठ वाली किसी चतुरा ने तोते को ऊँचे स्वर से कहा ।

किसी का पति द्वार तक आ चुका था । उसका अधर किसी अन्य कामी द्वारा खण्डित था । इसलिये उसे छिपाने के लिये तोते को संबोधन कर इस प्रकार वह बोली मानों उसे पति के आने का कुछ भी पता नहीं । 'अरे निर्दयी तू बिंबफल समझकर मेरे ओठों को काटता है । अब तू पकी-पकी

चपलनिराशो भव कुपिता तुभ्यं नो दास्यामीति । तेनोच्चैः प्रत्यायनापह्नवनवोन्मेषप्रज्ञाचातुर्यं चारुवचनमौचित्यचमत्कारं करोति ॥
यदाह भट्टतौतः — 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति ॥
न तु यथा मम तत्रैव —

'निर्याते दयिते गृहे विशयने निर्माल्यमाल्ये हृते
प्राप्ते प्रातरसह्यरागिणि परे वारावहारेऽन्यया ।
द्वारालीनविलोचना व्यसनिनी सुप्ताहमेकाकिनी —
त्युक्त्वा नीविविकर्षणः स चरणाघातैरशोकीकृतः ॥'

अत्र वेश्या व्यालग्नकामुकस्य वारावहारं विधाय नवकामुकेन सह क्षपायां नीतायां प्रभाते तस्मिन्निर्याते शय्याकुसुमादिसंभोगलक्षणे निवारिते वारवञ्चनकुपिते गाढ़ानुरागग्रहग्रस्तमतौ पूर्वकामुके प्राप्ते त्वदालोकनकाङ्क्षिणा व्यसनिनी द्वारन्यस्तनयनाहमेकाकिनी सुप्तेति

जामुनों की आशा न कर । मैं तुझे उन्हें भी न दूँगी ।' इसमें कवि ने विश्वास दिलाने एव दोष को छिपाने के लिए प्रज्ञाचातुर्य का चमत्कार के साथ औचित्य प्रदर्शित किया है ।

भट्ट तौत की उक्ति है कि प्रतिभा नई-नई सूझ वाली प्रज्ञा का नाम है ।

ग्रन्थकार की रचना के इस पद्यार्थ में वैसा औचित्य नहीं है ।

प्रिय बाहर निकल गया था, घर के सब जाग चुके थे । शृङ्गार शय्या के पुष्पादि हटा दिये गये थे । उस समय प्रातःकाल ही उत्कट राग वाला दूसरा प्रेमी वेश्यालय में आ गया, जिसे भोगावसर नहीं मिला था । वेश्या ने उसे यह कहकर कि—'मैं तुम्हारे प्रेम में द्वार पर नेत्र लगाए रात भर अकेली सोई हूँ ।' इस प्रकार भूमि पर चरणाघात किया कि उसकी नीवी खसकने लगी और कामुक अशोक बन गया ।

इसका आशय यह है कि किसी वेश्या ने अपने पुराने प्रेमी को संयोग सुख का अवसर न देकर नये प्रेमी के साथ रात बितायी । प्रभात होने पर जब वह बाहर निकल गया तो शृंगार शय्या के संभोग चिन्ह पुष्पादि हटा दिए गए । अवसर भ्रष्ट पुराना रागी गहरे प्रेम में विक्षिप्त सा होकर आया

प्रत्यायनावचनविलीनमन्युसरभससरसनीविकर्षणोद्यताकृतिकृतेर्ष्याकोपया चरणनलिनप्रहारै रशोकीकृतः । शङ्काशल्योन्मूलनान्निः शोकः सपादितः । सततपुलकाङ्कुरत्वादशोकतरुतुल्यतां नीत इति वा वाक्यार्थः । केवलसत्यविप्रलम्भप्रागल्भ्यमात्रमेव गणिकाया गाढरागमूलतां च प्रतिपादयति । न तु प्रतिभोद्भूतामौचित्यकणिकां सूचयति ॥

अवस्थौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) अवस्थोचितमाधत्ते काव्यं जगति पूज्यताम् ।
विचार्यमाणरुचिरं कर्त्तव्यमिव धीमताम् ॥३६॥

(वृ०) अवस्थोचिततया काव्यं जगति श्लाघ्यतामायाति । मतिमतामिव कृत्यं विचारनिघर्षरुचिरम् ॥ यथा मम 'लावण्यवत्याम्'—

'मुक्तः कन्दुकविभ्रमस्तरलता त्यक्तैव बाल्योचिता
मौग्ध्यं निर्धुतमाश्रिता गजगति र्भूलास्यमभ्यस्यते ।

तो वेश्या ने विश्वास दिलाने के लिए कृत्रिम कोप के आवेग में नीवी सरकाते हुए कहा कि मैं द्वार पर आँखें लगाए सारी रात तेरे लिए अकेली सोई हूँ । उसने क्रोध का व्यंजक पाद प्रहार किया तो कामी अशोक की भाँति फूल उठा । उसके शंका शल्य के निकल जाने से वह शोक रहित हो गया । इसमें गणिका का सच्चा वियोग तथा गाढ़ानुराग का दिखावा व्यक्त होता है । प्रतिभा से उद्भूत किसी औचित्य की सूचना नहीं मिलती ।

अवस्थौचित्य —

अवस्था के औचित्य वाला काव्य संसार में पूज्य बनता है जैसे बुद्धिमानों का विचार से किया गया कार्य ।

अवस्था के उचित चित्रण होने से कविता संसार भर में प्रशंसनीय बन जाती है । विचार पूर्वक किया गया बुद्धिमानों का कार्य जैसे सुन्दर बन जाता है ।

ग्रन्थकार की रचना 'लावण्यवती' का यह पद्यार्थ वैसा ही है ।

'उसने गेंद खेलना छोड़ दिया है । बाल्योचित चंचलता भी त्याग दी है । भोलापन उड़ गया है । गजगति का आश्रयण कर भौंहें नचाने का

यन्नर्मोक्तिषु निर्मितं मृगदृशा वैदग्ध्यदिव्यं वच—
स्तद्विद्मः सुभगाभिमानलटभाभावे निबद्धो भरः ॥'

अत्र यदुक्तं कन्दुकक्रीडा त्यक्ता, बालचापल्यंपरिहृतम्. मौग्ध्यं निरस्तम्, गजगतिरङ्गीकृता, भ्रूलतालास्याभ्यासः क्रियते, नर्मोक्तिषु वचनवैचित्र्यमासूत्रितम्. तेन जानीमहे शैशवावस्थां समुत्सृजन्त्या यौवनमाश्रयन्त्या प्रौढतामनारूढ्यापि नवसंभोगगौरवगर्भेण सुभगाभिमानेन लटभाभावे बालया भरो निबद्ध इत्यभिहिते स्फुटमृदुसंबद्धा (?) वयोवस्थामध्य संधिवर्णनायामौचित्यं स्फुरदिवाव भासते ॥ न तु यथा राजशेखरस्य —

'ज्यायान्धन्वी नवघृतधनुस्ताम्रहस्तोदरेण
क्षत्रक्षोदं व्यतिकरपटुस्ताटकाताडकेन ।
कर्णाभ्यर्णस्फुरितपलितः क्षीरकण्ठेन सार्धं
योद्धुं वाञ्छन्न कथममुना लज्जते जामदग्न्यः ॥'

अभ्यास कर रही है । नर्म परिहासों में विदग्धता की बातें वह कहने लगी है । इससे प्रतीत होता है कि उसे सौभाग्य का अभिमान प्राप्त हो गया है ।'

इसमें कहा गया है कि उसने कदुक क्रीड़ा छोड़ दी है, बालकपन की चपलता भी त्याग दी, भोलापन हटा दिया, हाथी की सी चाल लेली है; भौहों को नचाने का अभ्यास कर रही है; प्रेम परिहासों में विचित्र वाणी बोलती है । इससे पता लगता है कि उसने शैशवावस्था का त्याग और यौवनावस्था का आश्रयण किया है । अभी पूरी प्रौढ़ता नहीं मिली फिर भी नवीन संभोग के गौरव से भरे सौभाग्य अभिमान के कारण बाला को किसी तरुण का अभाव खलता नहीं, यहां स्पष्ट कोमल और परस्पर में सम्बद्ध वयः संधिका वर्णन है । औचित्य ऊपर उभरता सा दिखाई देता है राजशेखर के निम्न पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं रहा ।'

यह प्रौढ़ धन्वी, क्षत्रियों के विनाश में पटु तथा कान पर्यन्त बुढ़ापे के सफेद बाल लेकर वृद्ध बना परशुराम उस रामचन्द्र से युद्ध करना चाहता है, जिसकी हथेली नवीन धनुर्ग्रहण से लाल ही पड़ी है, जो ताडका को मारने वाला है तथा जिसके कण्ठ में अभी माँ का दूध भी संलग्न है । उसे लज्जा क्यों नहीं आती ?'

अत्र भार्गवः स्थविरावस्थास्थितः स्थिरतरपराक्रमकर्कशप्रौढ़ा धनुर्धरः शिशुना रामेण धनुर्ग्रहणारुणित कोमलकरकमलतलेन क्षत्रिय-क्षयसंरम्भप्रगल्भस्ताडका ताडकेन स्फुरदाकर्णपलितः संभाव्यमानजन-नीस्तन क्षीरकण्ठेनामुना युयुत्सुः । कथं न लज्जत इत्युक्ते पेशलतया राघवावस्थायां जामदग्न्यावस्थाविपरीतायां प्रतिपाद्यमानायां ताटका-ताड़केनेति विरुद्धाधिवासोऽर्थः किमप्यनौचित्येन चेतसि संकोचमाद-धाति ॥ विचारौचित्य दर्शयितुमाह—

(का०) उचितेन विचारेण चारुतां यान्ति सूक्तयः ।
वेद्यतत्त्वावबोधेन विद्या इव मनीषिणाम् ॥३७॥

(वृ०) विचारौचित्येन सूक्तयश्चारुत्वां यान्ति । ज्ञेयस्वरूप ज्ञानेन विद्या इव विदुषाम् ॥ यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

इसमें चमत्कार पूर्ण ढंग से राघव की अवस्था परशुराम की अवस्था से विपरीत वर्णित की गई है । परशुराम प्रौढ़धन्वी हैं, रामचन्द्र के हाथ इतने कोमल हैं कि धनुर्ग्रहण से उनकी हथेली लाल हो जाती है जामदग्न्य ने असंख्य क्षत्रियों को मारा है। रामचन्द्र जी केवल ताड़का को मार पाये हैं । जामदग्न्य के कानों पर बुढापे के चिन्ह सफेद बाल आ गए हैं पर राम अभी बालक हैं। इस विषमता में युद्ध लज्जाजनक है । यहाँ अवस्था भेद की व्यंजना लक्ष्य है उसमें रामचन्द्र को ताड़का संहारी कहकर वीर बताना विरुद्ध अभिधान है । इस अनौचित्य से चित्त में संकोच सा होता है ।

विचारौचित्य—

जिस प्रकार मनीषियों की विद्या वेदनीय तत्व के अवबोध से और अधिक शोभनीय बन जाती है उसी प्रकार काव्योक्तियों में उचित विचार का अभिधान होने से अधिक चारुता आती है ।

उदाहरण के लिए ग्रन्थकार की 'मुनिमतमीमांसा' का यह पद्यार्थ दिया जाता है:—

अश्वत्थामवधाभिधानसमये सत्यव्रतोत्साहिना
मिथ्या धर्मसुतेन जिह्मवचसा हस्तीति यद्व्याहृतम्।
सा सत्यामृतरश्मिवैरमसमं संसूचयन्त्याः सदा
शङ्के पङ्कजसंश्रयेण मलिनारम्भा विजृम्भा श्रियः॥'

अत्र द्रोणनिधनाख्याने सत्यव्रतोत्साहवता धर्मतनयेनापि मिथ्या लघुवचसा कुञ्जर इति यदुक्तं सा सततं सत्यचन्द्रद्वेषं सूचयन्त्याः श्रियः शङ्के पङ्कजसंश्रयेण मलिनाव्यापारा विजृम्भेत्यभिहिते ससंवादलक्ष्मीस्वभावपरिभावनतया तत्त्वावबोधेन मूलविश्रान्त्या फलपर्यवसायी विचारः सहृदयसंवेद्यमौचित्यं व्यनक्ति॥ न तु यथा मम तत्रैव—

'प्रम्लाने चिरकालवृत्तदयिताकेशाम्बराकर्षणे
क्रूरं राक्षसवैशसं यदि कृतं भीमेन दुःशासने।

'अश्वत्थामा के वध की बात कहते समय सत्य के व्रत का उत्साह रखने वाले युधिष्ठिर ने भी जो वक्रता से (हस्ती) यह कहा था वह प्रतीत होता है, कमलासना लक्ष्मी का सत्य के चन्द्रमा से अपना विषम वैर सूचित करने के लिए मालिन्य प्रदर्शन था जो उसे कीचड़ में उत्पन्न कमल के आश्रयण से प्राप्त हुआ है।'

द्रोणाचार्य के वध के प्रसंग में सत्य के दृढ़व्रती धर्मराज ने भी उच्च स्वर से 'अश्वत्थामा मारा गया' यह कह कर धीरे से कुञ्जर' कहा था। उस पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि पंकजवासिनी लक्ष्मी का चन्द्रमा से पंकज के कारण सदा का द्वेष रहा है। असत्य के भाषण में सत्य के चन्द्रमा से वैर की सूचना देने वाली लक्ष्मी का ही वह व्यापार था। अर्थात् लक्ष्मी के कारण दूषित होकर युधिष्ठिर ऐसा कहने को उद्यत हो गए। इसमें लक्ष्मी के स्वभाव को प्रकट किया गया है। तत्त्व का अवगम प्रकट करते हुए अन्त में फल पर्यवसायी विचार उपस्थित है। अतः सहृदय संवद्य औचित्य व्यक्त होता है।

ग्रन्थकार की उसकी रचना के दूसरे पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं दोखता: —

'बहुत पहले जो पत्नी के केश और वस्त्रों का आकर्षण हुआ था उसके फीका पड़ जाने पर भीम ने दुःशासन पर यदि राक्षसों का सा नृशंस क्रूर

तत्कालक्षमिणा कुशाश्मपरुषारण्य प्रतासे चिरं
किं पीतं तत, तापमग्न महिषस्वेदाम्बुपृक्तं पयः ॥

अत्र भीमसेनचरिते विचार्यमाणे त्रयोदशवर्षपर्युषिते कृष्णाकेशाकर्षणपराभवे भीमेन भीमं राक्षसकर्म दुःशासने यदि कृतं तत्सद्यः-कृताद्वापराध कालक्षमिणा सुचिरं दर्भसूचीविषमाश्मपरुषवनवासे किं ग्रीष्मतापनिमग्नमहिषस्वेदस्त्रुतिपृक्तं पयः पीतमित्यनुपपन्नकृत्येऽभिहिते कारणविचाराभावान्निर्मूलोपालम्भमात्रमनौचित्यमनुबध्नाति ॥

नामौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः ।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी ॥३८॥

कर्म किया तो कुशाग्रों एवं पत्थरों के कठोर अरण्यों में समय की प्रतीक्षा करते हुए देर तक रहकर वहाँ उन्होंने धूप में हाँपते हुए भैंसों के पसीने से गदला बना पानी किस लिए पिया था ?

इसमें भीमसेन के चरित्र का विचार किया गया है । द्रौपदी के केशाकर्षण के तेरह वर्ष पुराना होने पर भीम ने दुःशासन पर बाद में भयानक राक्षस कर्म किया। यदि ऐसा ही करना था तो उस समय अपराध को सहन कर चिरकाल तक पत्थर तथा दर्भ-सुइयों के कठिन बनों में गर्मी के संताप से जल में डूबते हुए भैंसों के पसीने से मिला हुआ पोखरों का पानी क्यों पीया था ? अर्थात् यह कार्य पहले ही करना चाहिये था। इसमें भीम का कार्य निन्द्य बताया गया है पर इसमें कारणों पर विचार न कर निर्मूल उपालम्भ दिया गया है । अतः अनुचित है ।

नामौचित्य—

नाम का प्रयोग यदि उचित होता है तो पुरुष के समान काव्य के गुण और दोषों की अभिव्यक्ति प्रेसंगानुकूल हो जाती है ।

(वृ०) काव्यस्य कर्म औचित्यं तेन नाम्ना पुरुषस्येव गुणदोषव्यक्तिः संवादिनी ज्ञायते ॥ यथा कालिदासस्य—

'इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै—
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥'

अत्र प्रारम्भ एव ममेदं मनः पञ्चबाणः सुदुर्लभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः शकलीकरोति । किमुत लीलोद्यानसहकारैर्मलयानिलान्दोलितबालपल्लवैरङ्कुरेषु दर्शितेष्वित्युक्ते मदनस्य पञ्चबाणाभिधानमुचितमेव ॥ यथा वा मम बौद्धावदानलतायाम्—

'तारुण्येन निपीतशैशवतया सानङ्गशृङ्गारिणी
तन्वङ्ग्या सकलाङ्गसङ्गमसखी भङ्गिर्नवाङ्गीकृता ।

काव्य का कर्म औचित्य है । अतः नाम से पुरुष की भाँति उसके गुण और दोष रमणीयता से प्रकट हो जाते हैं । जैसे कालिदास के निम्नलिखित पद्यार्थ में :—

'यह पञ्चबाण, जिसे दुर्लभ वस्तुओं की प्रार्थना से भी नहीं रोका जा सकता, मेरे हृदय पर पहले से ही प्रहार करता था । धीमी वायु से हिलते हुये पत्तों के आम्रवृक्षों पर जब अंकुर दिखाई पड़ने लगे तो फिर कहना ही क्या ?

यहाँ बताया गया है कि कामदेव दुर्लभ वस्तुओं की प्रार्थना करने से भी नहीं हटता । यह पहले से ही मन को खण्डित कर रहा था । उपवन के खिलते हुए आमों पर नवीन पत्ते आगए तो फिर क्या कहना ? इसमें प्रहार करने वाले कामदेव के लिए 'पंचबाण' नाम का प्रयोग कर्मानुरूप अतएव उचित है। अथवा ग्रन्थकार की 'बौद्धावदानलता' पुस्तक में :—

'तारुण्य के द्वारा शैशव के पी लेने पर, तन्वंगी ने कामदेव को सजाने वाली और सब अंगों में व्याप्त होने वाली नई सुन्दरता ग्रहण करली । इसके बल पर

नि:संरम्भपराक्रमः पृथुतरारम्भाभियोगं विना
साम्राज्ये जगतां यथा विजयते देवो विलासायुधः ॥'

अत्र यौवननिपीतशैशवतया तन्वङ्ग्यानङ्गश्रृङ्गारवती सर्वाङ्ग-संगमसखी सा काप्यभिनवा भङ्गिरङ्गीकृता यया निष्प्रयत्नपराक्रमः प्रभूततरारम्भसंभार विहाय त्रिभुवनसाम्राज्ये जयति देवो विलासायुध इत्युक्ते कामस्य विलासायुध इति नामोपपन्नमेव । तन्वङ्गीभङ्ग्यैव सिद्धत्रैलोक्याधिपत्यविजिगीषायां कामसायकादीनां नैरर्थक्यात् ॥

न तु यथा कालिदासस्य—

'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥'

'अत्र पश्यतो भगवतस्त्रिनेत्रस्य स्मरशरनिपातक्षोभे वर्ण्यमाने तन्निकारकोपशमाय 'संहर संहर प्रभो क्रोधमिति' यावद्वचः खे

कामदेव बहुत बड़े उद्योग के बिना और अपने पराक्रम में क्रोध लाए बिना ही संसार पर साम्राज्य स्थापित करने में विजयी बन जाता है ।'

यहाँ कहा गया है कि यौवन द्वारा शैशव के पी लेने पर तन्वंगी ने काम के श्रृंगार वाली समस्त अंगों में व्याप्त कोई नवीन सुन्दरता स्वीकृत कर ली जिससे बिना प्रयत्न और पराक्रम के और बहुत बड़े कार्यभार के बिना ही कामदेव संसार में साम्राज्य स्थापित करने में विजयी हो जाता है । यहाँ काम का 'विलासायुध' नाम युक्ति युक्त है । तीनों लोकों के साम्राज्य को जीतने की इच्छा तन्वंगी की सुन्दरता और चेष्टा से ही सिद्ध हो गई तो कामदेव के बाण निरर्थक हो गए । कालिदास के ही इस पद्यार्थ में उक्त सौष्ठव नहीं है :—

'हे प्रभो, क्रोध को रोको, रोको' ये देवताओं के बचन जब आकाश में फैले ही थे कि भगवान शिव के नेत्र से उत्पन्न हुई अग्नि ने कामदेव को भस्म कर डाला ।'

कामदेव के बाण मारने पर तीसरा नेत्र उघाड़ कर देखते हुए शिव के क्रोध का इसमें वर्णन है । उनके अनादर और कोप को शान्त करने के लिए

देवानां चरति तावद्भुवनेत्रोद्भवः स वह्निर्मदनं भस्मराशिशेषम् अकार्षीदित्युक्ते संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानम् अनुचितमेव ॥
आशीर्वचनौचित्यं दर्शयितुमाह—

(का०) पूर्णार्थदातुः काव्यस्य संतोषितमनीषिणः ।
उचिताशीर्नृपस्येव भवत्यभ्युदयावहा ॥३९॥

(वृ०) संपूर्णार्थसमर्पकस्य संतोषितविदुषः काव्यस्य नृपतेरिवोचितमाशीः पदमभ्युदयावहं भवति ॥ यथास्मदुपाध्यायगङ्गकस्य—

'स कोऽपि प्रेमार्द्रः प्रणयपरिपाकप्रचलितो
विलासोऽक्ष्णां देयात्सुखमनुपमं वो मृगदृशाम् ।
यदाकूतं दृष्ट्वा पिदधति मुखं तूणविवरे
निरस्तव्यापारा भुवनजयिनः पञ्च विशिखाः ॥'

जैसे ही देवता चिल्लाये कि 'प्रभु क्रोध को रोकिये' उतने में ही भगवान शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि ने कामदेव को राख बना दिया । यहाँ संहार के समय 'रुद्र' आदि न कह कर 'भव' कोमल नाम का प्रयोग कर्मानुरूप नहीं है इसलिए अनुचित है ।

आशीर्वचन का औचित्य—

मनीविषयों को संतोष प्रदान करने वाले और पूर्णार्थ के प्रदाता काव्य में उचित आशीर्वचन राजा को दिये गये आशीर्वाद की भाँति अभ्युदय कारी होता है ।

सम्पूर्ण अर्थ के समपर्क और विद्वानों को संतोष देने वाले काव्य का आशीर्वाद राजा के आशीर्वाद की भाँति अभ्युदय कारी होता है । (राजा भी अर्थ अर्थात् धन देता है और विद्वानों को संतोष प्रदान करता है ।) जैसे ग्रन्थकार के गुरु गंगक के निम्नलिखित पद्यार्थ में:—

'प्रणय के परिपाक से प्रकट हुआ मृगलोचनियों का प्रेमार्द्र नेत्र-विलास आप सबको सुख प्रदान करे । इसके बल को देखकर भुवन विजयी कामदेव के पांचों बाण व्यापार विहीन होकर तूणीर में अपना मुँह छिपा लेते हैं ।

अत्र स कोऽप्यसामान्यप्रेमप्रणयविश्रान्तिप्रगल्भकुरङ्गदृशां निरुपमो नयनविलासः सुखं वो देयात् । यदभिप्रायमालोक्य भुवनजयिनः कामस्य पञ्च सायकाः समाप्तव्यापारास्तूणीरविवरे लज्जयेव मुख पिदधतीत्युक्ते सुखं वो देयादित्याशीः पदमुचितमेव प्रियानयनविभ्रमस्य सुखार्पण-योग्यत्वात् ॥ यथा वा मम वात्स्यायनसूत्रसारे :—

'कामः काम कमलवदनानेत्रपर्यन्तवासी
दासीभूतत्रिभुवनजनः प्रीतये जायतां वः ।
दग्धस्यापि त्रिपुररिपुणा सर्वलोक स्पृहार्हा
यस्याधिक्यं रुचिरतितरामञ्जनस्येव याता ॥'

अत्र कामः प्रीतये वो जायतां यस्य दग्धस्याप्यञ्जनस्येवाधिक्यं रुचिर्यातित्युक्ते प्रीतये जायतामित्युचितं कामस्य प्रीत्यात्मकत्वात् ॥ न तु यथामरुकस्य—

यहाँ पर यह कहा गया है कि सुन्दरियों का वह असाधारण नयन विलास जो, असामान्य प्रेम की स्थिरता और प्रगल्भता के द्वारा उत्पन्न होता है, आप सब को सुख प्रदान करे । इसके अभिप्राय को समझकर भुवनविजयी कामदेव के पाँचों बाण कार्य समाप्त होने से तूणीर में मानों लज्जा से मुँह छिपाते हैं । 'यहाँ आप सबको सुख प्रदान करें' यह आशीर्वचन उचित है । प्रेयसी का नेत्रविभ्रम सुख देने में समर्थ है ।

ग्रन्थकार के 'वात्सायन सूत्रसार' ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में भी यही बात है:—

'संसार भर को सेवक बनाने वाला, कमलमुखियों के नेत्रान्त का निवासी कामदेव आप सबको प्रीति प्रदान करे । उसे शिव ने जला डाला था फिर भी अंजन की भाँति इसकी शोभा अधिकाधिक बढ़ गई ।'

यहाँ 'काम आप सबको प्रीति प्रदान करे, । जिसके जल जाने पर भी अधिकाधिक शोभा बढ़ गई ।' इसमें 'प्रीति प्रदान करे' यह कहना उचित है क्योंकि काम प्रीतिरूप है । यही बात अमरुक कवि के निम्नलिखित पद्यार्थ में नहीं है—

'आलोलामलकावलीं विलुलितां बिभ्रच्चलत्कुण्डलं
किंचिन्मृष्टविशेषकं तनुतरैः स्वेदाम्भसां सीकरैः।
तन्वङ्ग्याः सुतरां रतान्तसमये वक्त्रं रतिव्यत्यये
तत्त्वां पातु चिराय किं हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैः'

अत्र तन्व्या रतिव्यत्यये लोलालकं चलत्कुण्डलं स्वेदसलिलेन किंचिदुन्मृष्टतिलकं यन्मुखं तत्त्वां पातु, किं हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैरित्युक्ते पातु त्वामित्यनुचितम्। आनन्दयतु त्वामित्युचितं स्यात्। अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणाभ्यानन्त्यान्न प्रदर्शितानीत्यलमति प्रसङ्गेन॥

कवि-परिचय

आसीत्प्रकाशेन्द्र इति प्रकाशः काश्मीर देशे त्रिदशेश्वरश्री।
अभूद्गृहे यस्य पवित्रसत्रमच्छिन्नमग्रासनग्रजानाम्॥
यः श्री स्वयंभूभवने विचित्रे लेप्यप्रतिष्ठापितमातृचक्रः।
गो भूमिकृष्णाजिनवेशमदाता तत्रैव काले तनुमुत्ससर्ज॥

'जिसकी चंचल अलकावली हिल रही हो, कुण्डल भी चल रहे हों, तथा पसीनों की छोटी-छोटी बूँदों से तिलक थोड़ा पुछ गया हो, ऐसा विपरीत रति के अवसान समय का प्रियतमा का मुख तुम्हारी रक्षा करे। हरि, हर, स्कन्द आदि देवताओं से क्या लाभ ?'

इसमें कहा गया है कि 'विपरीत रति के अवसान में तन्वी का मुख, जिसके बाल बिखरे और कुण्डल चञ्चल हों तथा पसीने की बूदों से तिलक पुछ गया हो—रक्षा करे। हरि, हर आदि देवताओं से क्या लाभ ?' यहाँ पर 'रक्षा करे' यह कहना अनुचित है। 'आनन्द प्रदान करे'— यह कहना चाहिए। दूसरे काव्याङ्गों में भी इसी पद्धति से औचित्य का विचार करना चाहिए। उदाहरणों की बहुलता के कारण सब अंगों को दिखाया नहीं गया है। इतना ही पर्याप्त है।

कवि-परिचय—

काश्मीर में अपने देश के प्रकाश स्वरूप श्री प्रकाशेन्द्र थे जिनकी संपत्ति इन्द्र के तुल्य थी। उनके घर में निरन्तर यज्ञ चलता रहता था और उसमें ब्राह्मणों

तस्यात्मजः सर्वमनीषिशिष्यः श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा ।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश्चक्रे नवौचित्यविचारचर्चाम् ॥
श्री रत्नसिंहे सुहृदि प्रयाते शार्वं पुरं श्री विजयेशराज्ञि ।
तदात्मजस्थोदय सिंहनाम्नः कृते कृतस्तेन गिरां विचारः ॥

यस्यासिः परिवारकृत् त्रिभुवनप्रख्यातशीलश्रुतेः
सर्वस्यावनतेन येन नितरां प्राप्ता विशेषोन्नतिः ।
आशाः शीतलतां नयत्यविरतं यस्य प्रतापानलः
तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः ॥

इति श्रीप्रकाशेन्द्रात्मजव्यासदासापराख्यश्रीक्षेमेन्द्र कृता औचित्य विचार चर्चा समाप्ता ।

को आगे आसन मिलता था। उसने ब्रह्मा का मंदिर बनाकर उसमें षोडश मातृकाओं के भित्तिचित्र बनाये थे और गौ, पृथ्वी, मृगचर्म तथा भवनों का दान देते हुए उसी में शरीर समय पर छोड़ा था ! सब मनीषियों का शिष्य क्षेमेन्द्र उपनाम व्यासदास उन्हीं का पुत्र है। उसने 'औचित्य विचारचर्चा' लिखी है। जब श्री विजयेश राजा रत्नसिंह, जो मित्र थे, शिवलोक को चले गए तो उनके पुत्र उदयसिंह के लिये यह वाणी विचार किया गया है।

यह ग्रन्थ राजा श्री अनन्तराज के समय में प्रणीत हुआ है। उनके शील और शास्त्रज्ञान संसार भर में प्रख्यात थे। उनकी तलवार परिवारकी सृष्टि करती थी। उन्होंने सबके सामने अवनत होकर विशेष उन्नति प्राप्त की थी तथा उनका प्रतापानल दिशाओं को शीतल बनाता था।

श्री प्रकाशेन्द्र के पुत्र क्षेमेन्द्र उपनाम व्यासदास की रचना 'औचित्य विचार चर्चा' समाप्त हुई।